

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

<b>BORROWER'S No.</b>	<b>DUE DTATE</b>	<b>SIGNATURE</b>

# विद्यशालभञ्जिका

प्रकाशक हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी

१९५९

१९५९

१९५९

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी - १



Government College, Library  
KOTA (Raj)

~~922~~  
Accession No. 922

Class No. A/15

Book No. .... Vol. No. ....

॥ श्रीः ॥

# द्विधाभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

महाकविभूराजशेखरविरचिता

ection

## विद्धशालभञ्जिका

'प्रकाश' हिन्दी व्याख्योपेता

व्याख्याकारः

पं० रामकान्त त्रिपाठी

पी.एच.डी० (स्नातक)

संस्कृत विभाग : लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ



चौरवम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२१

मूल्य संशोधित रूपेण

© The Chowkhamba Vidya Bhawan,  
Chowk, Varanasi-1 ( India )

1965

Phone : 3076

THE  
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

125



# VIDDHAŚĀLABHAÑJIKĀ

OF

RĀJAS'EKHARA

EDITED WITH THE PRAKĀŚA HINDĪ COMMENTARY

BY

RAMĀKĀNTA TRIPĀTHĪ

Ph. D. ( Scholar ), Sanskrit Department,  
Lucknow University,  
Lucknow.

THE  
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1965

*Also can be had of*

**THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE**

**Publishers and Antiquarian Book-Sellers**

**POST BOX 8, VARANASI-1 ( India ) PHONE : 3145**

# भूमिका

काव्य : दृश्य एवं श्रव्य

संस्कृत अलंकारशास्त्रियों में वामन सर्वप्रथम एवं अग्रगण्य हैं जिन्होंने ग्रन्थ-रचना में रूपक (दृश्यकाव्य) को श्रेष्ठ माना है। अपने में पूर्ण होने से चित्र की तरह रूपक आश्चर्यजनक होता है। चित्रवत्ता के कारण ही दृश्यकाव्य श्रेष्ठ है। यह रूपक ही है जिससे कथा, आख्यायिका एवं महाकाव्य आदि निःसृत हैं<sup>१</sup>।

रूपक अपने में पूर्ण है, आख्यायिका और महाकाव्य आदि इसी के रूप परिवर्तन हैं। रूपकों को अधिक श्रेष्ठ देने का वामन ने एक ही कारण दिया है। रूपक प्रत्येक वस्तु में वर्तमान रहने से पूर्ण है, अतः रूपक चित्र के समान विचित्र है। परन्तु रूपक का चित्र के साथ तुलना करने में क्या महत्त्व है? विशेष साकल्य का क्या अर्थ है? इसको वामन ने समझाने का प्रयत्न नहीं किया है। वे विशेषताएँ क्या हैं, जो महाकाव्य एवं आख्यायिका आदि में नहीं प्राप्त होतीं, परन्तु जो रूपक में वर्तमान हैं, इन सब प्रदनों को वामन ने विस्तृत रूप में समझाने का अल्प प्रयास भी नहीं किया है।

वामन के मत का अनुसरण करते हुए संस्कृत साहित्य एवं दर्शन के प्रौढ़ विद्वान एवं आलोचक अभिनवगुप्त ने नाटक को रसास्वाद की दृष्टि से अन्य की अपेक्षा पूर्ण माना है। अभिनवगुप्त का कथन है कि जहाँ तक रस के आनन्द का—रसास्वाद का—सम्बन्ध है, मुक्तक में उतना आनन्द नहीं आता है, क्योंकि विभाव एवं अनुभाव आदि का वर्णन इसमें नहीं होता है। अतः एक पूर्ण प्रबन्ध में ही सम्यक् रूप से रसास्वाद की प्राप्ति सम्भव है। ब्रह्मानन्द

---

१. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेष्ठः। तद्विचित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्। ततोऽन्यभेदकल्पातिः। ततो दशरूपकादन्वेषां भेदानां कल्पातिः कल्पनमिति। दशरूपकस्य हि इदं सर्वं विलसितं कथाख्यायिके महाकाव्यमिति। (काव्यानुशासन सूत्र और विवृति १२—३०, ३२)



स्वाद सहोदर रस का आनन्द प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा नाटक से ही होता है, यह जब मञ्च पर प्रस्तुत किया जाता है<sup>१</sup>। वेप-भूषा, चाल-ढाल और प्रवृत्ति आदि का काव्य में केवल वर्णन मात्र होता है। परन्तु नाटक में सामाजिक प्रत्यक्ष रूप से इन सबकी चक्षु इन्द्रियों से देखता है। अतः रसास्वाद का अन्तिम उत्कर्ष नाटक से ही प्राप्त होता है। नाटक की अपेक्षा कम रसास्वाद महाकाव्य से प्राप्त होता है। सबसे कम रसास्वाद मुक्तक से होता है<sup>२</sup>।

यद्यपि अभिनवगुप्त ने भाषा, वेप आदि की प्रत्यक्षता के कारण दृश्य का अविलम्ब प्रभाव स्वीकार किया है, फिर भी श्रव्यकाव्य में इसकी योजना का अभाव प्रमाणित नहीं होता है। अभिनवगुप्त ने स्पष्टरूप से इस बात का उल्लेख किया है कि काव्यानुभूति सद्दय से सम्बन्धित है। सद्दय ने यदि काव्य का अनुधीलन कर लिया है, जिसके कुछ प्राक्तन संस्कार हैं तो भाव आदि के उन्मीलन के द्वारा काव्य के विषय का साक्षात्कार किया जा सकता है।<sup>३</sup> कहने का सारांश यह है कि यदि दृश्यकाव्य समस्त बातों को प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित कर देता है तो श्रव्यकाव्य में इसकी उपस्थिति के लिए सद्दय की कल्पना अपेक्षित है।

अभिनवगुप्त के बाद 'शृंगार प्रकाश' और 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के रचयिता भोज ने कवि और काव्य को नट और अभिनय की अपेक्षा उच्च स्थान प्रदान किया है। भोज ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ से ही इस बात का उल्लेख किया है कि रसास्वादन सामान्य व धोतागण के द्वारा तर्फी किया जाता है, जब यह

१. तच्च ( रसास्वादीलर्षकारकं विभावादीनां समप्रापान्यम् ) प्रबन्ध एव भवति । वस्तुतस्तु दशरूपक एव । यदाह धामनः—सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः । तद्विचित्रं चित्रपटवद् विदोषसाकल्यात् । ( अभिनव भारती, पट्ट अध्याय, पृ. २८७ )

२. तदुपरसचरणया तु प्रबन्धे भाषावेपप्रवृत्तौचित्वादिकल्पनात्, तदुप-  
र्खावनेन मुक्तके । ( अभिनव भारती, पट्ट अध्याय, पृ० २८७ )

३. तेन ये फाव्यान्वसि प्राक्तनपुण्यादिहेतुर्लाडिति सद्दयात्ते परिमितवि-  
भावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः फाव्यार्थः स्फुरति । अतएव  
तेषां फाव्यमेव प्रतिव्युत्पत्तिकृदनपेक्षितनाट्यमपि । ( अभिनवभारती, पट्ट  
अध्याय, पृ० २८७ )

एक प्रवीण नट के द्वारा अभिनीत होता है या प्रबन्ध काव्य में महाकवि के द्वारा वर्णित होता है। किसी पदार्थ के श्रवण मात्र से जितना आनन्द आता है, उतना उस पदार्थ के साक्षात्कार करने पर नहीं। इसीलिये भोज ने कवि को नट की अपेक्षा उच्च स्थान प्रदान किया है एवं काव्य को अभिनय की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है।

संस्कृत अलंकारशास्त्र में नाटककार के लिए अन्य शब्द नहीं प्रयुक्त होता है। नाटककार को भी कवि ही कहा जाता है। नाटक की भी 'काव्य' ही नाम से सम्बोधित करते हैं। भोज का यहाँ यह कथन कि कवि और काव्य को नट एवं अभिनय की अपेक्षा अधिक महत्त्व देना चाहिए, अभिनवगुप्त के मत से सूक्ष्म विरोध प्रकट करता है। भोज के अनुसार नाट्यकार कवि का, जिसने रस के आनन्द के लिए काव्य लिखा है—जिसमें आनन्द प्राप्त करने के लिए नट के योग की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, नट की अपेक्षा विशेष महत्त्व है—जो (नट) रङ्गमञ्च पर सामाजिक के समस्त अभिनयों के द्वारा उसे अभिनीत करता है। यहाँ काव्य का तात्पर्य नाट्यकी पाठ्य पुस्तक से है। नाटक को हृद्य काव्य की भी संज्ञा दी गई है। नाटक का बच तक रङ्गमञ्च पर प्रदर्शन नहीं किया जाता है—जब नाटक के अध्ययन से ही आनन्द की प्राप्ति होती है, तब न नाटक काव्य ही कहा जाया करता है। भोज ने कवि और काव्य का जो प्रयोग किया है, वह नाटककार और उसके 'नाटक' के लिए ही है। भोज इन्हीं को नट और उसके अभिनयों की अपेक्षा विशेष महत्त्व देते हैं।

१. स (रसः) च अनुभवैकगम्यत्वाद् अतर्विषयत्वाच्च दुरवसेयः । सम्यग्भिनयेषु वा विदग्धशैल्यैः प्रदर्श्यमानः सामाजिकैश्च धार्यते । प्रबन्धेषु वा महाकविभिः यथावद् आख्यायमानः विदुषां मनीषा विप्रयमवतरति । तत्र न तदा पदार्थाः प्रतीयमानाः स्वदन्ते, यथावग्मिनां बचोभिरावेद्यमानः । तदाह—

‘अत्यणितेसा णवि तह चित्तविआसं कुणान्ति सच्चेविआ ।

चह उणते उमिल्लन्ति सुकविआदिं सुसीसंता ॥

अतोऽभिनेतृम्यः कविनेव बहुमान्यामहे अभिनयेम्यश्च काव्यमेवेति ।

( शृंगारप्रकाश, चतुर्थप्रकाश ३-४ )

काव्य में अनुभाव एवं विभावों का वर्णन रहता है। इन्हींको रत्नमञ्च पर प्रयोग करने के कारण नाट्य कहा जाया करता है<sup>१</sup>। नाट्य जब अभिनीत किया जाता है, तब हमें प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता है। इसके विपरीत काव्य में कवि को अद्भुत वर्णनाशक्ति भी किसी पदार्थ के स्वरूप का जीता-जागता चित्रण कर देती है। यही नाट्य और काव्य में सूक्ष्म अन्तर है। अतः एक सहृदय सामाजिक के लिए नाट्य—जिसका अभिनय न हो रहा हो एवं ज्ञान्य में कुछ भी भेद नहीं है। एक उत्कृष्ट नाटक के लिए नट एवं नाट्यशाला की कोई आवश्यकता नहीं है। सामाजिक पढ़ने से ही आत्मविभोर हो जायगा पुनः जहाँ तक नाट्य (दृश्य) एवं काव्य (श्रव्य) इन दोनों की मार्मिकता का प्रश्न है, वहाँ भी परस्पर कोई भेद नहीं है। यदि दृश्य काव्य के मनोहर दृश्य दर्शक के माजूस पटल पर सदैव के लिए अङ्कित हो जाते हैं, तो श्रव्य काव्य की मनोहर पंक्तियाँ भी सहृदयों के कण्ठ में सदैव के लिए विराजमान हो जाया करती हैं।

### नाटिका

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में 'नाटिका' का उल्लेख 'नाटी' नाम से किया है। इनके अनुसार 'नाटी' की उत्पत्ति 'नाटक' और 'प्रकरण' के योग से हुई है। अभिनवगुप्त ने भरतमुनि के 'नाटी' सम्बन्धी लक्षणों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि आचार्य के अनुसार नाटिका में दो नायिकाएँ होनी चाहिए—एक 'स्वकीया' जो देवी होती है और दूसरी उच्चकुल की सुन्दरी होती है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार नाटिका चार अङ्कों की होती है। इसमें स्त्री पात्रों की बहुलता के साथ गूंगार रस की प्रधानता रहती है। अतएव वैशिश्वी वृत्ति का प्राधान्य होना स्वाभाविक ही है। स्त्री पात्रों में देवी, दूती, सखी, चेत्य एवं कन्या आदि का समावेश होता है। इसका नायक धीरललित होता है, अतएव सर्वत्र राग्योचित व्यवहार का प्रदर्शन होता है। नाटिका का फल स्त्री-

१. अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते ।

तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरङ्कितम् ॥

(व्यक्तिविवेक में उद्धृत)

लामपूर्वक राज्य-प्राप्ति है<sup>१</sup>। कन्या और देवी एक साथ ही इस रूपक की नायिका होती हैं। 'देवी' को चतुरङ्गा, मानिनी, दक्षा और चतुरा के रूप में चित्रित करना चाहिए। कन्या को मुग्धा एवं अपूर्व सुन्दरी के रूप में प्रदर्शित करना चाहिए। क्षत्रियवंशजत्व, नय, विनय, लज्जा, महत्त्व एवं गाम्भीर्य आदि धर्म दोनों में चित्रित किया जाना चाहिए। प्रायः कन्या के प्रति अनुराग को जान लेने पर 'देवी' राजा पर क्रोध का प्रदर्शन करती है। राजा उसको प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। राजा और कन्या परस्पर रति का प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार नाटिका में शृंगाररस के अङ्गों का बार-बार निवन्धन किया जाता है<sup>२</sup>।

कन्या और देवी के प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध होने से नाटिका के चार भेद होते हैं—(१) देवी अप्रसिद्धा, (२) देवी प्रसिद्धा, (३) कन्या अप्रसिद्धा, (४) कन्या प्रसिद्धा<sup>३</sup>।

जहाँ सूत्रधार, विदूषक, नयीया मापे के साथ वातालाप करते हुए व्यक्तिक (साक्षात् विवक्षित अर्थ का अप्रतिपादक) प्रत्यक्षोक्ति (साक्षात् विवक्षित अर्थ का प्रतिपादक) के द्वारा प्रस्तुत काव्यिक उपलक्षण को व्यक्त करे, जहाँ आमुख होता है। इसे प्रस्तावना के नाम से भी जाना जाता है।

१. चतुरङ्गा बहुश्रीका नृपेशा छा महीफल।  
कल्याण्यौ कैशिकी मुख्या.....  
( नाट्यदर्पण पृ० १०६ )
२. देवी दक्षाऽपरा मुग्धा, समा धर्मो द्वयो पुनः।  
क्रोधप्रसादप्रत्यूहरतिच्छ्रमादिभूरिशः ॥  
( नाट्यदर्पण, पृ० १०७ )
३. अख्यातिख्यातितः कन्या देव्योनांटी चतुर्विधा ॥  
( नाट्यदर्पण पृ० १०८ )
४. विदूषकनयीमापेः प्रस्तुताद्येपि भाषणम्।  
सूत्रधारस्य बकोक्त-स्योक्तैर्यत तदामुस्त्रम् ॥  
( नाट्यदर्पण पृ० १३६ )

हमारे देश में रूपक के प्रारम्भ में प्रस्तावना देने की प्रथा रही है। जैसे पूर्वरङ्ग के पाठ्य आदि कई भेद हैं किन्तु उनमें से प्ररोचना एवं नान्दी ही विशेष महत्त्व है। क्योंकि पूर्वरङ्ग के कुछ अंग या तो निष्कल हैं अथवा उनका प्रयोग अवश्यम्भावी नहीं है। प्रायः सभी कवियों के द्वारा ईप्सित प्रग्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए आरम्भ में आशीर्वाचनात्मक एवं नमस्कारात्मक स्तुति की जाती है, इसी को नान्दी कहते हैं। यह नमस्कारात्मक स्तुति देव, द्विज एवं गृप आदि के प्रति की जाती है। शारदातनय ने अपने 'भाव-प्रकाशन्' में नान्दी का निम्न स्वरूप दिया है—

( i ) शंकर के वैल नन्दी ने सृष्ट्यारम्भ में नृत्य करते हुए कल्पना के योग से रंगता प्राप्त कर ली थी। इसलिए उस रूप के सम्बन्ध से रूपक के प्रारम्भ में देवता आदि को नमस्कार या मंगलारम्भ किया जाता है, वह 'नान्दी' है।

( ii ) अथवा जो क्रिया सामाजिकों को प्रसन्न करे, यह 'नान्दी' है।

( iii ) अथवा पूर्वरङ्ग के सम्बन्ध से नाट्यारम्भ में प्रसन्नार्थ चाईस अंगों वाली क्रिया को 'नान्दी' कहते हैं<sup>२</sup>।

प्रायः कवि ही नान्दी का पाठ करता है। इसीलिए नाटक में 'नान्यन्ते सूत्रधारः' का प्रयोग मिलता है। इसके विपरीत जहाँ कवि नान्दी नहीं करता है अपितु सूत्रधार एवं स्थापक व पारिपार्श्विक ही नान्दी करते हैं, वहाँ 'नान्यन्ते सूत्रधारः' का प्रयोग नहीं किया जाता।

आमुखाद्गभूतनाट्यपात्रप्रवेशविधिः—पात्र ( मुख्य नायक आदि की भूमिका धारण करने वाले नट आदि ) के मञ्च पर प्रथम समय प्रवेश करने की अनेक विधियाँ हैं। कहीं समान इतिवृत्त वाले वाक्य को लेकर उसी के समान इतिवृत्त वाले वाक्य को लेकर उसी के समान उक्ति का प्रयोग करते हुए पात्र प्रवेश करते हैं। कहीं समान वाक्यार्थ को लेकर पात्र मञ्च पर प्रवेश

१. आशीर्वाचनसंयुक्ता नित्वं यस्मात् प्रयुज्यते।

देवद्विजगृपादीनां तरमानान्दीति संज्ञिता ॥

( नाट्यशास्त्र ५-२४ ),

२. भावप्रकाशन्, सप्तम अधिकार, पृष्ठ १९६।

करता है। कहीं काल ( ऋतु आदि ) का वर्णन करते हुए श्लेष से किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाती है और कहीं पर आह्वान के द्वारा ( यह वह आ रहा है, इस प्रकार के वचनों द्वारा ) पात्रों का मञ्च पर प्रवेश कराया जाता है।

### वृत्त

वृत्त दो प्रकार का होता है—मुख्य और प्रासंगिक। प्रबन्ध में सर्वव्यापक होने के कारण इष्ट फल से युक्त प्रधानवृत्त मुख्यवृत्त कहा जाता है। अंग वृत्त प्रासंगिक वृत्त कहा जाता है। यह वृत्त मुख्य वृत्त का अनुयायी होने के कारण इसका अवयव है। कोई वृत्त स्वभावतः ही मुख्य या प्रासंगिक की संज्ञा को नहीं प्राप्त करता है अपितु समस्तफलों में कवि के विदोष रूप से अभिप्रेत फल से युक्त वृत्त को मुख्य वृत्त कहते हैं। इससे व्यतिरिक्त प्रासंगिक वृत्त होता है। दशरूपककार के अनुसार जो वृत्त दूसरे प्रयोजन के लिए होता है किन्तु प्रसंग से जिसका स्वयं का भी फल सिद्ध होता है, वह प्रासंगिक वृत्त है।<sup>१</sup> संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मुख्य वृत्त मुख्य फल से सम्बन्धित रहता है एवं प्रासंगिक वृत्त गौण फल से युक्त रहता है।

वृत्त का फिर से चार तरह का विभाजन होता है—सूच्य, प्रयोज्य, ऊह्य और उपेक्ष्य<sup>२</sup>। नीरस वृत्त का रंगमञ्च पर प्रदर्शन करना अनुचित है। इसी प्रकार सरस होने पर भी जो वृत्त रंगमञ्च पर प्रदर्शन के योग्य नहीं है, उसकी सूचना ही विष्कम्भक आदि के द्वारा दिलवानी चाहिए। प्रयोज्य वृत्त सूच्य के ठीक विपरीत है। नट सामाजिकों के सामने वाचिकादि अभिनयों के द्वारा प्रयोज्य का अभिनय करता है। जिस वृत्त का स्वयं वितर्क किया जाय, वह ऊह्य कहलाता है। ग्रीडा आदि के जनक होने से जिसकी अवहेलना अथवा उपेक्षा कर दी जाय, वह उपेक्ष्य कहलाता है।

प्रयोज्य के अतिरिक्त इन सूच्य आदि वृत्तों की सूचना पाँच प्रकार के अर्थोपदेशकों द्वारा दी जाती है। ये अर्थोपदेशक निम्न हैं—विष्कम्भक, प्रवेशक,

१. प्रासङ्गिकं परमस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः ।

( दशरूपक, प्रथम प्रकाश, ६२ )

२. सूच्यं प्रयोज्यमम्बूह्यम्, उपेक्ष्यं तच्चतुर्विधम् । ( नाट्यदर्पण, पृष्ठ २७ )

अज्ञास्य, चूल्हिका और अज्ञावतार। यहाँ हम प्रवेशक और विष्कम्भक का ही वर्णन करने के लिये इन्हीं दोनों का ही प्रबन्ध में बहुलता से निरूपण होता है। विष्कम्भक दो प्रकार का होता है—शुद्ध एवं संकीर्ण। यदि भूतकालीन अथवा वर्तमानकालीन वृत्त ( अरञ्जक अथवा रञ्जक वृत्त भी हो ) का अभिनय एक दिन में अत्यन्त हो, तो वह प्रेक्षकों को साक्षात् उपलम्बमान न हो सकेगा। अबएव अङ्क में उसका निवन्धन न करके समाप्तपक्षित अथवा अर्थात् समाप्तपक्षित संस्कृत भाषा के माध्यम से मध्यम श्रेणी के पात्रों द्वारा अंक के आदि में सूचित करना चाहिए। ऐसा विष्कम्भक शुद्ध कहलाता है। अधम पात्रों के उपस्थित रहने से विष्कम्भक संकीर्ण हो जाता है। अधम पात्रों के रहने से संकीर्ण विष्कम्भक में प्राकृत का भी प्रयोग होता है। विष्कम्भक में मध्यम श्रेणी के पात्रों का रहना आवश्यक है, नहीं तो वह 'प्रवेशक' हो जायेगा। यह विष्कम्भक अंक के आदि में भी और दो अङ्कों के बीच में भी आ सकता है।

विष्कम्भक की सभी उपर्युक्त बातें प्रवेशक में पायी जाती हैं। केवल इतना ही अन्तर है कि प्रवेशक में केवल अधमकोटि के पात्रों का ही प्रयोग होता है, जो प्राकृत बोलते हैं। यह दो अङ्कों के बीच में ही होता है। नाटक, प्रकरण, नाटिका और प्रकरणों में ही प्रवेशक और विष्कम्भक का प्रयोग करना चाहिए।

वृत्त के पुनः निम्न भेद होते हैं—प्रकाश, स्वगत, अनवारित, वनान्तिक एवं आकाशोक्ति। जो वृत्त गोपनीय न होकर अरने से व्यतिरिक्त दूसरों के सुनने योग्य हो ( अर्थात् रंगमञ्च पर उपस्थित पात्रों के भी सुनने योग्य हो ) उसे 'प्रकाश' कहते हैं। जो दूसरों के लिए गोप्य अरने मन में ही स्थित रहने योग्य हो, उसे 'स्वगत' कहते हैं। जब उपस्थित व्यक्ति की ओर से घूमकर कोई रहस्य की बात की जाती है, तब यहाँ 'अनवारित' होता है। जब विरताकाकर की मुद्रा से रंगमञ्च पर उपस्थित अन्य लोगों की ओर करके दो व्यक्ति इस प्रकार बातचीत करें कि उनसे व्यतिरिक्त अन्य व्यक्ति न सुनें, तब 'वनान्तिक'

१. एवं प्रवेशको नीचैः, परार्थः प्राकृतदिना ।

एतौ प्रभूतकार्यवात्, नाटकादि चतुष्टये ॥

( नाट्यदर्पण, पृ० ३५ )

होता है । रंगमञ्च पर प्रविष्ट पात्र वहाँ दूसरे पात्र के विना ही आकाश की ओर मुक्त करके स्वयं ही प्रसन और प्रत्युत्तर करे, वहाँ आकाशोक्ति होती है<sup>१</sup> ।

वृत्त में सुखावबोध होने के लिए परिमित पद्य और गद्य का होना श्रेयस्कर है । सामाजिकों को समासबहुल एवं कर्कश गद्य दुर्बोध होने के कारण रसास्वाद नहीं कर सकता है । वृत्त में श्लिष्ट प्रधान फल से ही सम्बद्ध अवान्तर कार्यों की योजना करनी चाहिए । रूपक में उन्हीं अवान्तर वृत्तों का आयोजन करना चाहिए जो प्रधानरस के साधक हों । नदी, समुद्र, सूर्योदय एवं चन्द्रोदय आदि का भी यथावसर वर्णन करना चाहिए । वसन्त आदि ऋतुओं का एवं मधुपान, जलक्रीडा आदि का भी वर्णन करना चाहिए । सभी रसों में केवल एक ही रस की प्रधानता होनी चाहिए । इसके अतिरिक्त अन्य रसों को गौण स्थान मिलना चाहिए एवं अन्त में अद्भुत रस का भी समावेश करना चाहिए । श्लेष, उपमा एवं यमक आदि अलंकारों का भी निवेश करना उचित है । अंगभूत रस का नियोजन इस प्रकार होना चाहिए कि वह मुख्य रस का विरोध न कर पाए ।

पहले कहे हुए या पूर्व प्रकाशित किए हुए वृत्त को यदि प्रयोजनवश पुनः कहने की आवश्यकता हो तो उसे कान में ही कहलाना चाहिए जिससे पुनरुक्त दोष न आ पाए । सकल प्रबन्ध में रसरोहणार्थ रञ्जक भावों का वर्णन करना चाहिए । नायक अथवा रस के विरुद्ध और अयुक्त वृत्त को या तो छोड़ देना चाहिए या उनमें उचित संशोधन कर देना चाहिए<sup>२</sup> ।

### अर्थ प्रकृति

अर्थ प्रकृतियों पाँच हैं—बीज, पताका, प्रकरी, विन्दु व कार्य । रूपक के

१. प्रकाशं शाप्यमन्देरा, स्वगतं स्वहृदि स्थितम् ।  
परावृत्य रहस्याप्याऽन्यस्मै तदपवारितम् ॥  
त्रिपताकान्तरोऽन्नेन, बल्लो यस्तञ्जनान्तिकम् ।  
आकाशोक्तिः स्वयम्प्रसन-प्रत्युत्तरमपात्रकम् ॥

( नाट्यदर्पण, पृ० ३० )

२. अयुक्तं च विरुद्धं च नायकस्य रसस्य वा ।  
वृत्तं यत् तत् परित्याज्यं प्रकल्प्यमयवाऽन्यथा ॥

( नाट्यदर्पण, पृष्ठ ३० )



प्रारम्भ में थोड़ा सा उद्दिष्ट वह तत्त्व जो रूपक के इतिवृत्त के मुख्य साधन का उपाय है 'बीज' है। यह तत्त्व इतिवृत्त में घान आदि के बीज के समान प्रवृत्त होता है। जिस प्रकार कृपक वृक्ष एवं फल आदि की इच्छा से मृत्ति में बीज का निक्षेप करता है, उसी प्रकार नायक आदि पात्र भी धर्म, अर्थ एवं कामरूप फल के लिए आमुल के साथ बीज-वनन करता है। गम्भीर होने के कारण आरम्भ में बीज को सूक्ष्मरूप से निश्चित किया जाता है। धरने अर्थ में प्रवृत्त जो चेतन हेतु प्रधान के प्रयोजन को सम्पादित करता है उसे 'पताका' कहते हैं। स्वार्थ को अपेक्षा न करता हुआ एवं वृत्तकदेशगत होता हुआ भी मुख्य नायक के प्रयोजन को सम्पादित करने वाला चेतन सहायक 'प्रकरी' कहा जाता है। जैसे वृक्ष की रक्षा के लिए छोटे-छोटे साधनों की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार नायक को भी धर्म, काम तथा अर्थरूप वृक्ष की रक्षा के लिए ऐसे ही छोटे-छोटे सहायकों की आवश्यकता पड़ती है, इन्हें ही 'प्रकरी' कहते हैं।

नाट्य में कुछ अनुष्ठानों के प्रति व्यवधान उपस्थित हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में उस कार्यके सम्पादनार्थ नायक व प्रतिनायक आदि के अनुष्ठान को विचारालम्बक फल-लाम के प्रति उपायमूल होने के कारण 'विन्दु' कहते हैं। यथा बीज-वनन के साथ विन्दु-निक्षेप करना पड़ता है, उसी प्रकार नाटक का नायक भी धरने धर्म, अर्थ एवं कामरूप फल के लिए 'बीज' वनन के अनन्तर विन्दु निक्षेप करता है। 'विन्दु' के रूप में नायक के प्रयत्नों का अभिव्यञ्जन होता है। यह 'विन्दु' वृत्त में ठीक उसी तरह से प्रसारित होता है, जैसे तैलविन्दु घट में प्रसारित होता है। बीज-सदृश साधन समूह को 'कार्य' कहते हैं। धनिक आदि विद्वानों के अनुसार धर्म, अर्थ एवं काम रूप त्रिवर्ग पुण्याय 'कार्य' हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ भी धनिक से सहमत हैं किन्तु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि इन विद्वानों के मतानुसार कार्य नामक अर्थव्यवृत्ति स्वयं प्रयोजन है। फिर प्रयोजन उक्तका स्वयंनिधि हेतु कैसे बन सकता है ?

### अथवा पञ्चक

नायक के प्रधान वृत्त में आरम्भ, यत्न, प्राप्ताया, निपटानि और पञ्चक

अवस्थाएँ अवश्य निवृद्ध होती हैं<sup>१</sup> । किसी भी फल की प्राप्ति के लिए नायकादि में इच्छा होती है एवं उस फल के प्रति औत्सुक्य भी पाया जाता है । इसी फलौत्सुक्य को 'आरम्भ' कहते हैं<sup>२</sup> । मुख्य साध्य के प्रति यह विचार आना कि यह इसके द्वारा साध्य है, यहाँ आरम्भ है । व्यापार में होने वाला त्वरा ( चेष्टा ) को प्रयत्न कहते हैं<sup>३</sup> । 'इस उपाय के बिना फल-प्राप्ति नहीं होगी' इस निश्चय से मन में जो उत्सुकता होती है, वही प्रयत्न है । इसके अन्तर्गत नायक या नायिका अपनी इष्ट वस्तु को प्राप्त करने के व्यापार में संलग्न रहते हैं । औत्सुक्य मात्र का पाया जाना आरम्भ है, फल के लिए की गई चेष्टा यत्न है । यही आरम्भ और यत्न में मेद है ।

हेतुमात्र से फल की किञ्चित् सम्भावना 'प्राप्त्याशा' है<sup>४</sup> । प्राप्त्याशा का विस्तरेण इस प्रकार किया जा सकता है—प्रधान फल के लाभ की आशा 'प्राप्त्याशा' है । इसमें फल-प्राप्ति के विषय में निश्चय नहीं होता क्योंकि फल अनेक विधों एवं शंकाओं से युक्त रहता है । उपायों की सफलता से होने वाला कार्य-निर्णय 'नियताप्ति' है<sup>५</sup> । नियताप्ति में फल-प्राप्ति निश्चित हो जाती है । नायक के लिए साक्षात् रूप से अर्थात् अव्यवहित होने वाली इष्टार्थ की सम्भूति 'फलागम' है । घनज्ञय के अनुसार भी समस्तफल की प्राप्ति 'फलागम' है<sup>६</sup> ।

### सन्धि विचार

नाटक में कई कथांशों का निबन्धन रहा करता है । उन प्रत्येक कथांशों का प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न ही हुआ करता है । एक ही प्रयोजन को लक्ष्य में

१. आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति फलागमाः ।

नेतुर्वृत्ते प्रधाने स्युः पञ्चावस्था ध्रुवं क्रमात् ॥ ( नाट्यदर्पण, पृ० ४४ )

२. फलापौत्सुक्यमारम्भः... । ( वही, पृ० ४४ )

३. प्रयत्नो व्याप्तौ त्वरा । ( वही, पृ० ४५ )

४. फलसम्भावना किञ्चित् प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः । ( वही, पृ० ४५ )

५. नियताप्तिरवश्यानी साकल्पात् कार्यनिर्णयः । ( वही, पृ० ४६ )

६. समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः ।

( दशरूपक, प्रथम प्रकाश, २२ )

रखकर वहाँ भिन्न-भिन्न कथाओं परस्पर अन्वित कर दिए जाते हैं, वहाँ पर भिन्न-भिन्न कथाओं का अन्तर्प्रयोजन से सादृश्यता होना ही सन्धि है। साहित्य दर्पणकार के अनुसार एक प्रयोजन में अन्वित कथाओं के अन्तर्प्रयोजन सम्बन्ध को 'सन्धि' कहते हैं।

सन्धि शब्द का अर्थ है—सन्धान करना। नाटक के किसी भी कथानक का उचित रूप से निर्वाह करने के लिए उसकी भागों में विभक्त कर देना चाहिए। इससे कथानक का सन्धान उचित रूप में हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्धिपत्रों का मुख्य उद्देश्य है—कथानक का उचित रूप में सन्धान करना। इसके अतिरिक्त सन्धि के कई अर्थ भी हैं। रूपक में उनका भी निर्योजन अत्यन्त उपादेय है। नाटक की रचना करते समय यदि नाटककार सन्धि के अर्थों पर ध्यान देता है तो उसके लिए इष्ट अर्थ का समावेश सुगम हो जाता है। वह नाटक में सरलतापूर्वक एवं सुगमता के साथ अपने अनीष्ट अर्थों का समावेश कर सकता है। रूपक में बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनका संगमन्ध पर प्रदर्शन उचित नहीं माना गया है। सन्धि के अर्थों का ध्यान रखने से उन निषिद्ध कथाओं का परिवारा भी सरलतापूर्वक किया जा सकता है। नाटककार के लिए जिस बात को प्रकट करना अनिष्ट है, उसे प्रकट करने के लिए भी नाटककार को सन्धिपत्रों का ध्यान रखना चाहिए। यदि नाटककार सन्धिपत्रों का ध्यान नहीं रखता तो बहुत सम्भव है कि वह किसी प्रकट करने योग्य वस्तु को नष्ट करे। इसलिए भी सन्धि के अर्थों का ध्यान रखना आवश्यक है। सन्धि के अर्थों का एक प्रयोजन यह भी है कि इनसे दर्पणकार ने नाटक के प्रति विरग नहीं उत्पन्न हो पाता, क्योंकि सन्धिपत्रों से रचना अत्यन्त सुगठित हो जाती है। रूपक में चरित्रकार होने के लिए भी सन्धिपत्रों की सहायता लेनी पड़ती है। सन्धिपत्रों का ध्यान रखने से वृत्तान्त झंझ नहीं हो पाता है। कथा के प्रति लोगों में रुचि उत्पन्न रहती है। सम्भवतः सन्धिपत्रों के इसी उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है 'जिस प्रकार अंगरहीन अनुष्ण सुख के अयोग्य होता है, वही प्रकार अंगरहीन काव्य भी प्रयोग के लिए अनुष्ण सुख ही

१. एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथायानामान्वयैरुपयोजनसम्बन्धः सन्धिः।

(साहित्यदर्पण, पृष्ठ परिच्छेद, पृ० ३१९)

रहता है<sup>१</sup> । किन्तु इन संधियों का समस्त रूपकों में क्रमशः प्रयोग हो, यह आवश्यक नहीं है । यदि इन संधियों से एवं इनके अङ्गों से कथानक का निर्वाह ठीक रूप में हो जाता है, तब तो इनका प्रयोग करना चाहिए । वस्तुतः मुख्य बात तो यह है कि यदि नाटककार अपनी नाटक रचना पर स्वयं ध्यान दे तो सन्धि एवं सन्व्यङ्ग उस नाटक में स्वयं ही आ जायेंगे । परन्तु यदि कोई नाटककार सन्धि एवं सन्व्यङ्ग के फेर में पड़कर नाटक-निर्माण में संलग्न रहेगा तब तो उसका नाटक, नाटक न होकर सन्धि एवं सन्व्यङ्ग की उदाहरणमाला बन जायेगा । इसलिए यदि सन्धियों से कथानक में व्याघात उपत्थित हो तो इन संधियों का यथात्याग परित्याग भी कर देना चाहिए ।

मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण ये पाँच सन्धियाँ हैं । ये पाँच सन्धियाँ प्रारम्भ आदि अवस्थाओं से अनुगत रहती हैं । मुखसन्धि में प्रारम्भावस्था, प्रतिमुख सन्धि में यज्ञ, गर्भसन्धि में प्राप्त्याशा, अवमर्श में नियतार्ति और निर्वहण सन्धि में फलागम का सन्निवेश रहता है । इन पाँचों सन्धियों में मुख और निर्वहण सन्धियों की मुख्यता है, क्योंकि प्रतिमुख, गर्भ एवं अवमर्श सन्धियों का यथावसर परित्याग भी किया जा सकता है । जब तक हम रूपक में आरम्भावस्था का वर्णन नहीं करेंगे नाटक प्रारम्भ ही नहीं हो सकता । यदि हम फलप्राप्ति का प्रदर्शन नहीं करते, नाटक अधूरा ही रहेगा । प्रारम्भ और फलप्राप्ति इन दो अवस्थाओं के वर्णन करने का शास्त्र है कि मुख और निर्वहण सन्धियों का समावेश स्वयं ही हो जाएगा ।

रूपक की प्रथम सन्धि मुखसन्धि है । इस सन्धि में रूपक के बीज की सूचना दी जाती है । रस एवं भाव आदि से रमणीय मुखसन्धि प्रारम्भावस्था में होने के कारण मुख के समान है । मुखसन्धि में बीज अल्परूप से ही प्रकाशित रहता है, प्रतिमुख सन्धि में प्रधानोपाय के उद्घाटन से बीज का प्रबल रूप में प्रकाशन होता है । मुखसन्धि में बीज का वनन होता है, प्रतिमुख सन्धि में आकर वही बीज फूटने लगता है । परन्तु इस सन्धि में भी बीज कुछ अस्पष्ट दशा में रहता है । आभालाभ की गवेषणा के द्वारा जिसमें बीज का औन्मुख्य

१. नाट्यशास्त्र ( २१—५४ )

(Translation of the Natya Shastra by M. Ghosh)

हो, वह गर्म नामक सन्धि है। प्रतिमुल सन्धि में किञ्चित् प्रनाशित हुए बीज का दार-दार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है किन्तु गर्म सन्धि में—प्राप्त्याशा से परिच्छिन्न होने के कारण—फल का ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता। जहाँ व्यसन, श्राप, दैवी आपत्ति या क्रोध आदि से फल-प्राप्ति में दिग्भ्रम उपस्थित हो जाता है, वहाँ 'अवमर्श' सन्धि पायी जाती है। रुजक के प्रधान वृत्तांश में कषायस्तु के बीज का विकार (उत्पत्ति, उद्घाटन, फलोन्मुलता आदि) प्रारम्भ आदि अवस्थाएँ, विचित्र भाव, उपाय (विन्दु आदि) और मुख, प्रतिमुल, गर्म एवं विमर्श आदि संधियों एक अर्थ के लिए नायक, प्रतिनायक, नायिका, अमात्य आदि के व्यापारों के साथ सम्यक् औचित्य से ज्ञान सम्बद्ध कर दी जाती है, तब फलश्रमावस्था से परिच्छिन्न निर्वहण सन्धि की प्राप्ति होती है।

#### नायक

भारतीय नाटक के नायक में धैर्य का पाया जाना आवश्यक है। यही कारण है कि नायक के सभी भेदों के साथ 'धैर्य' विशेषण अवश्य प्रयुक्त किया जाता है। (नाट्यदर्पणकार के अनुसार मध्यम और उत्तम नायक के स्वभाव के अनुसार चार प्रकार के भेद हैं—धीरोद्भूत, धीरोदात्त, धीरललित और धीरशान्त)। देवताओं को धीरोद्भूत के रूप में चित्रित करना चाहिए। सेनापति और मंत्रियों को धीरोदात्त के रूप में निबद्ध करना चाहिए। राजा का निबन्धन धीरललित के षोडश में विशेष चाहिए। ब्राह्मण और वैश्य धीरशान्त होते हैं। धीरोद्भूत नायक धनवरियत, शौर्यादि के गर्व से युक्त, कूट प्रयोग करने वाला

१. उद्भूतोदात्तललितशान्ताधीरविरोपणाः।

वर्थाः स्वमाकदचत्वारः नेतृणां मध्यमोत्तमाः ॥

(नाट्यदर्पण, पृ० २६.)

२. देवा धीरोद्भूता क्रेशः सत्विहास्तु वृशः स्फुटाः।

सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तो मन्त्रीतिती ॥

धीरशान्तविद्येया ब्राह्मणा वर्णजस्तथा।

(नाट्यशास्त्र, अध्याय ३४—१८, १९)

एवं स्वप्रशंसी होता है<sup>१</sup> । धीरोदात्त कोटि का नायक अति गम्भीर होता है । उसके मन पर क्रोध, शोक आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । वह न्याय करने वाला, क्षमावान् और स्थिर प्रकृति होता है । इस कोटि का नायक स्वप्रशंसा-रहित हुआ करता है । इसका गर्व संयत रहता है । वह अपने प्रण को जीवन के अन्त तक निभाता है एवं शरण में आए हुए की रक्षा करता है । वह लोक व्यवहार और शास्त्र का ज्ञाता एवं धर्म में रुचि रखने वाला होता है<sup>२</sup> । स्थिरता, दृढ़ता आदि गुण सामान्यतः प्रत्येक नायक में पाए जाते हैं परन्तु इन गुणों की पराकाष्ठा धीरोदात्त नायक में ही देख पड़ती है ।

धीरललित नायक शृंगारी होता है । वह मंत्रियों के द्वारा राज्य-भार छोड़ देने से राज्य की चिन्ता से मुक्त रहता है । इसका स्वभाव अत्यन्त मृदु होता है । यह गीतादि में भी अनुपगम रखता है<sup>३</sup> । इसमें शृंगार रस की प्रधानता पायी जाती है । अतएव इसका समस्त आचरण सुकुमार हुआ करता है । धीरोदात्त नायक अहंकार से सर्वथा रहित, कृपालु एवं विनम्र (गुरुधन आदि की आज्ञा का उल्लंघन न करना) होता है<sup>४</sup> ।

नायिका के प्रति व्यवहार आदि की दृष्टि से उपरोक्त नायकों के पुनः चार भेद किए जा सकते हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और घृष्ट । जो नायक एक ही नायिका में अनुरक्त रहता है, उसे 'अनुकूल' नायक कहते हैं । दक्षिण नायक एक साथ ही कई नायिकाओं में अनुरक्त रहता है परन्तु उसका व्यवहार सभी नायिकाओं से एक समान होता है । घृष्ट नायक लज्जाहीन हुआ करता है । वह अपनी पूर्वा नायिका से अरने नवीन प्रेम को छिपाता नहीं है । इससे शरीर शठ नायक अरने नवीन प्रेम को छिपाया करता है ।

प्रकृति-भेद के अनुसार नायक के तीन भेद होते हैं—उत्तम, मध्यम और अवम । उत्तम नायक विनम्र, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रिय बोलने वाला, बातचीत करने में कुशल एवं सुवक्त्र होता है । इसी प्रकार इसमें और भी उत्तम गुण पाए

१. धीरोदात्तश्चलक्ष्ण्डो दर्पो दम्भा विकल्पिनः । ( नाट्यदर्पण, पृ० २७ )
२. धीरोदात्तोऽतिगम्भीरो न्यायी सुखी क्षमी स्थिरः । ( वही, पृ० २७ )
३. शृंगारी धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः । ( वही, पृ० २७ )
४. धीरोदात्तोऽनहङ्कारः कृपालुर्विनयी नवी । ( वही, पृ० २७ )

जाते हैं। मध्यम प्रकृति के नायक में न तो बहुत 'उत्कृष्ट और न बहुत अरुष्ट गुण पाए जाते हैं। निम्न प्रकृति का नायक पापी, जुगुहूखोर, आलसी, कृतर्मा, हीन सत्त्व, स्त्री-लोडन, रूष और बड़ होता है।

नायक के पुनः तीन भेद किए जा सकते हैं—दिव्य, अदिव्य एवं दिव्यादिव्य। देवता दिव्य, मनुष्य अदिव्य और मनुष्य का रूप धारण किए देवता दिव्यादिव्य होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर नायक के १४ भेद होते हैं।

नायक में पुरुषत्व युक्त आठ सात्त्विक गुणों का होना परमावश्यक है। ये सात्त्विक गुण निम्न हैं—तेज, विलास, माधुर्य, शोभा, स्पर्श, गाम्भीर्य, औदार्य एवं ललित। इन्हीं उपरोक्त गुणों के कारण ही नायक की उच्चमता, मध्यमता या अधमता निर्धारित की जाती है।

### नायिका

यद्यपि नाटक आदि रूपक में नायक का विशेष महत्त्व है, तथापि नायिका का इनसे कम महत्त्व नहीं है; विशेषकर शृंगाररस-प्रधान रूपक में। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में नायिकाओं के चार भेदों का उल्लेख किया है—दिव्या, नृप-पत्नी, कुलस्त्री और गणिका।

काम और अर्थ का प्राधान्य होने से ललितोदात्त रूपक में पण्यकामिनी का निग्रहण करना चाहिए। प्रहसन से भिन्न रूपक में गणिका को नायक के प्रति निवृत्त करना चाहिए। 'दिव्या' नायिका दिव्य कुल से उत्पन्न रहती है। इसी प्रकार नृप-पत्नी भी उद्भवंशोद्भूता होती है। अवस्था तथा कामभावना के आधार पर कुलस्त्री आदि नायिकाएँ तीन प्रकार की होती हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। मुग्धा नायिका यौवन और कामभावना से युक्त रहा करती है। अनभिज्ञ होने के कारण यह सुरत आदि क्रीड़ाओं से विपरीत रहा करती है। मध्या नायिका यौवन और कामभावना दोनों से पूर्ण रहा करती है। इसके अन्दर कामभावना का स्वल्प उद्रेक पाया जाता है। यह सुरत को मूर्च्छा के अल्प रक्त रूढ़ सत्करी है। नायक के प्रतिकूल आचरण करने पर यह काम प्रकट करती है। ऐसी अवस्था में उसके तीन भेद होते हैं—धीर, अधीर और धीरधीर। प्रिय के अग्रगण्य करने पर धीर मध्या बक्रोक्ति के द्वारा उसके हृदय को दुःखित करती है। अधीर नेत्रों में अश्रु मरे हुए कठोर वचन सुनाती है। धीरधीर मध्या रुदन

करने के साथ ही साथ व्यंग्य वचनों का प्रयोग भी करती है। प्रगल्भा नायिका में यौवन, क्रोध और काम अत्यन्त दीप्त रहा करता है। वह प्रिय के द्वारा स्पर्श किए जाने पर ही अपने चैतन्य का त्याग कर देती है। वह अचेतन सी हो जाती है। मध्या नायिका के समान इसके भी तीन भेद हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। धीरा प्रगल्भा या तो आवश्यकता से अधिक नायक का सत्कार करती है या मुरत के प्रति उदासीनता प्रकट करती है। अधीरा प्रगल्भा क्रोध में आकर नायक की ताड़ना करती है। धीराधीरा प्रगल्भा व्यंग्य और कठोर वचन कहती है।

नायिकाओं का वर्गीकरण अन्य आधार पर भी किया जा सकता है। नायक के सम्बन्ध के आधार पर नायिका के पुनः तीन भेद किए जा सकते हैं—स्वीया, अन्या और सामान्या। 'स्वीया' नायिका नायक की स्वयं परिणीता पत्नी होती है। 'अन्या' या तो किसी व्यक्ति की अनूठा कन्या हो सकती है या किसी की विवाहिता पत्नी। तीसरी श्रेणी की नायिका साधारण स्त्री होती है।

उपर्युक्त सभी नायिकाएँ प्रकृति भेद से तीन तरह की होती हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा। उत्तम प्रकृति की स्त्री लज्जायुक्त; मृदु स्वभाव वाली, धीरा, गम्भीरा, स्मित हास करने वाली, विनीता, कुलजा, चतुरा और स्नेहला होती है। मध्यम प्रकृति की स्त्री में मध्यम गुण और नीच प्रकृति की स्त्री में नीच गुण पाए जाते हैं।

अवस्था के भेद से नायिकाएँ आठ प्रकार की होती हैं—प्रोषितप्रिया, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहान्तरिता, विरहोत्कण्ठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनमर्तुका और अभिसारिका। जिस नायिका का प्रिय धनोपार्जन, राज-प्रयोजन आदि के कारण देशान्तर में स्थित रहता है, शृंगारादि से रहित वह नायिका 'प्रोषितप्रिया' कहलाती है। समय पर प्रिय के न आने से दुःखित नायिका को 'विप्रलब्धा' से अभिहित किया जाता है। 'खण्डिता' नायिका असूया से युक्त रहती है। 'कलहान्तरिता' नायिका नायक के अपराध करने पर ईर्ष्या तथा कलह के कारण उसका प्रित्याग कर देती है और बाद में पश्चात्ताप भी करती है। अनपराधी प्रिय (जिसने अन्य स्त्री के साथ मुरत आदि क्रीड़ाएँ नहीं की हैं) के आगमन में विलम्ब देखकर उत्सुकता से उसकी प्रतीक्षा करने वाली नायिका 'विरहोत्कण्ठिता' कहलाती है। प्रिय के आगमन के समय हर्ष से अपने को सँवारती हुई



नायिका 'वासकसज्जा' कहलाती है। 'स्वाधीनमर्तुका' नायिका का पति इसके वश में रहता है। सुरतार्थिनी नायिका स्वयं नायक के पास गमन करे या मित्र को अपने समीप बुलाए, 'अभिसारिका' कही जाती है।

### विद्रूपक

नाट्य में विद्रूपक का प्रयोग प्रधानरूप से हास्य के निमित्त ही किया जाता है<sup>१</sup>। इसका मुख्य कार्य हास्य का उत्पन्न करना ही बताया गया है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार विद्रूपक सत्वाट होने के कारण, दन्दुर, कुबड़ेन और विहृताननत्वादि भागिक विकारों के द्वारा, आकाश-विलोकन, गमनादि नेत्रम्य विकारों द्वारा एवं अक्षम्बद्ध, निरर्थक और अश्लील भाषण आदि वाचिक विकारों के द्वारा हास्य की उत्पत्ति करता है<sup>२</sup>। पुनः इनके मतानुसार विद्रूपक शान्ति को कलह के द्वारा और कलह को शान्ति के द्वारा नष्ट करता है। राजा की विभोगादस्था में विनोददान के द्वारा विद्रूपक उत्तमो प्रसन्न रहता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी आगे चलकर यह बताया है कि विद्रूपक प्रेम-व्यापार में नृप का अनन्य मित्र हुआ करता है। यह अपने कर्म, रूप एवं भाषण के द्वारा हास्य की अभिव्यक्ति करता है। यह ईर्ष्यालु, बलहृषिय एवं अपने कर्त्तव्य का शत्रु भी होता है<sup>३</sup>। इसके अतिरिक्त विद्रूपक नायक का अन्तरङ्ग मित्र भी हुआ करता है। वह प्रेम विषयक व्यापार में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नायक के साथ परिहास भी किया करता है।

इसके अतिरिक्त विद्रूपक पूर्वरङ्ग में भी उपस्थित होकर कथावस्तु का संकेत करता है। यह पूर्वरङ्ग में त्रिगत के अवसर पर सूत्रधार और उसके सहायक के

१. हास्यकृच्च विद्रूपकः ( दृश्यरूपक, द्वितीय प्रकाश, नवीं कारिका )  
विद्रूपको हास्यनिमित्तं भवति ( नाट्यदर्पण, पृ० १७७ )

२. हास्यं चास्याङ्गनेत्रम्यदयोविकारात् त्रिधा । तत्राङ्गहास्यं मल्लवि-  
रञ्ज-दन्दुर-विहृताननत्वादिना । नेत्रम्यहास्यमत्यायताम्बरत्वोल्लोहितविशीकृत-  
गमनादिना । यच्चो हास्यमयसम्बद्धानर्थकश्लीलभाषणादिना भवति ।

( नाट्यदर्पण, पृ० १७७ )

३. कर्मवपुर्वेपभाषार्थः । हास्यकरः कलहप्रतिविद्रूपकः स्वात्स्न्यकर्मणः ।

( साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, पृ० १०६ )

साय प्रवेश करता है। विदूषक सहसा मञ्च पर आकर पहलीयुक्त बात करता है। तदनन्तर वह कुछ प्रश्न करता है। यथा—यहाँ कौन है ? किसने विजय प्राप्त की ? आदि, आदि। इसके साथ वार्तालाप करते हुए सूत्रधार क्यावस्तु की सूचना देता है<sup>१</sup>।

भरत के अनुसार विदूषक द्विज होता है। इसके दाँत बड़े-बड़े और आँखें रक्त वर्ण की होती हैं। यह कुबड़ा और विकृत रूप वाला होता है<sup>२</sup>। इसके द्विज होने का अभिप्राय यह है कि विदूषक शूद्र जाति का नहीं हो सकता। शारदातनय ने भी भरत के शब्दों को यत्किञ्चित् परिवर्तनों के साथ दुहराया है<sup>३</sup>। द्विज होने के कारण विदूषक यशोपवीत धारण किए रहता है। वह अपने हाथ में छड़ी भी लिए रहता है जिसे दण्डकाष्ठ अथवा कुटिलक कहते हैं। ब्राह्मण जाति का होने से स्वभाव से ही वह पैदू, मधुर-प्रिय एवं भीरु होता है।

नायक के चार मेरों के आधार पर विदूषक के भी चार भेद हैं—लिङ्गी, द्विज, राजर्जवी और शिष्य; जो क्रमशः दिव्य, रूप, अमात्य और ब्राह्मण नायक के विदूषक होते हैं<sup>४</sup>। शारदातनय ने चारों प्रकार के नायकों के विदूषकों के गुणों का उल्लेख किया है। देवताओं का विदूषक सत्यवादी, भूत, वर्तमान और भविष्य का शता, कृत्याकृत्य का विशेषज्ञ, तर्क और वितर्क करने वाला और यथार्थ दृष्टिवादी हुआ करता है। राजा का विदूषक शिष्ट परिहास करने वाला, अर्थ और स्त्रियों में शुद्ध मन वाला और देवी की परिचारिकाओं का

१. तथा च भारती भेदे त्रिगतं सम्प्रयोजयेत् ॥

विदूषकस्त्वेकपदां सूत्रधार..... ।

असम्भ्रसकयाप्रायां कुर्यात् कथानिकां ततः ॥

वितण्डां गण्डसंयुक्तां नालीकं च प्रयोजयेत् ।

कस्तिष्ठति जितं केनेत्यादिकव्य..... ॥

( नाट्यशास्त्र, पञ्चम अध्याय, पृ० २४२ )

२. वामनो दन्तुरो मुञ्जो द्विजन्मा विकृताननः ।

खलतिः पिङ्गलाश्रय स विवेये विदूषकः ॥

( नाट्यशास्त्र, अध्याय ३५—५७ )

३. भावप्रकाशन, पृ० २८९, दशम अधिकार ।

४. नाट्यशास्त्र, अध्याय ३४, १६-२० ।

प्रियतम होता है। यह अन्तःपुर में भी भ्रमण किया करता है। यह ईप्सालि, कलह-युक्त और प्रणय-क्रोध में देवी को प्रसन्न करने वाला होता है। अमाल्य का विदूषक अश्लील वक्ता, टप्पाति के अपराधों का प्रकाशक, भस्व और अमस्व सभी पदार्थों का प्रेमी होता है। इसके अंग और वेप सभी विरूप होते हैं। वणिक् के विदूषक का वेप, अङ्ग, वचन एवं परिहास सभी विरूप होता है<sup>१</sup>।

ब्राह्मण होते हुए भी विदूषक प्राकृतभाषा का ही प्रयोग करता है। भरत ने स्पष्टरूप से कहा है कि विदूषक को वार्तालाप करते समय प्राच्य प्राकृत का प्रयोग करना चाहिए<sup>२</sup>। इसी नियम का उल्लेख सागरनन्दिन आदि विद्वानों ने भी किया है<sup>३</sup>।

### राजशेखर

‘सर्वभाषाविचक्षण’ एवं ‘सर्वभाषाचतुर’<sup>४</sup> महाकवि राजशेखर का जन्म यायावर कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम दुर्दुक एवं माता का नाम शीलवती था। इनके पितामह महाराष्ट्रचूडामणि अकालबलद थे<sup>५</sup>। इन्होंने अवन्तिमुन्दरी नाम की चौहानवंशी विदुषी क्षत्रिय लड़ना से विवाह किया था<sup>६</sup>। इन्होंने अपने को बाल्मोकि, भर्तृमेष्ठ और भवभूति का अवतार माना है<sup>७</sup>।

ये कान्यकुम्भ नरेश महेन्द्रपाल के यहाँ व्याचार्य त्त में रहते थे<sup>८</sup>। सिधो-

१. भाष्यप्रकाशन पृ० २८१-८२।

२. प्राच्या विदूषकादीनाम्—। (नाट्यशास्त्र, अध्याय १८, १८ वीं श्लोक)

३. शौरसेनीमथप्राच्याभवन्तीं कर्हिचेत् पठेत्।

एता एव वणिक् भेष्टि बालकाश्च विदूषकाः ॥ (नाटकलक्षणरत्नकोश)

४. कर्पूरमञ्जरी, प्रथम जवनिकान्तर।

५. तदकालबलदस्य प्रणयुस्तस्य.....। (विद्वशालभञ्जिका, प्रथम अङ्क)

६. चाण्डहाणकुलमीलिभाञ्जिआ राअदेहर कइंढगेहिणी।

भलुण्ठेकिदिभवंतिमुन्दरी सा पठंजइदुनेदमिच्छदि ॥

(कर्पूरमञ्जरी, प्रथम जवनिकान्तर, ११)

७. भवूच बलमोकमवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेष्ठताम्।

शियतः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥

(बालरामायण १।१६)

८. खुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकञ्जानिलयः स यस्य शिष्यः।

(विद्वशालभञ्जिका, पृ० अ०, ६)

टोनी के शिलालेख से ज्ञात होता है कि महेन्द्रपाल ने ९०३ ई०—९०७ ई० तक राज्य किया<sup>१</sup>। अतएव राजशेखर का स्थितिकाल ९०० ई० के लगभग निश्चय होता है। पुनः कुछ अन्य तथ्यों से भी इनके काल-निर्णय में सहायता मिलती है। एक ओर राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में उद्भट (८०० ई०) एवं आनन्दवर्धन (८५० ई०) का उल्लेख किया है। दूसरी ओर यशस्तिलक चम्पू (९५९ ई०), 'तिलकमञ्जरी' (१००० ई०) और 'व्यक्तिविवेक' (११५० ई०) में भी राजशेखर का उल्लेख है। इस प्रकार राजशेखर दसवीं शती के प्रारम्भ में हुए थे, ऐसा सिद्ध होता है।

इनके बनाए हुए निम्न ग्रंथ हैं—( i ) काव्यमीमांसा, ( ii ) भुवनकोप ( iii ) बालरामायण, ( iv ) बालभारत, ( v ) कर्पूरमञ्जरी, ( vi ) विद्वशाल-मञ्जिका। काव्यमीमांसा के अवलोकन से इनकी अद्वितीय प्रतिभा का पता चलता है। यह प्रायः कवियों की शिक्षा का ग्रंथ है। 'भुवनकोप' कदाचित् भूगोल का ग्रन्थ था। बालरामायण दस अङ्कों का नाटक है। इसका दशम अङ्क भौगोलिक वर्णनों से ओत-प्रोत है। बालभारत के केवल दो ही अङ्क उपलब्ध हुए हैं। कर्पूरमञ्जरी चार अङ्कों का सट्टक है। सम्पूर्ण ग्रंथ प्राकृत भाषा में लिखा गया है। इसमें राजा चन्द्रपाल और कुन्तलराजकुमारी कर्पूरमञ्जरी की प्रेमकथा का वर्णन किया गया है।

### विद्वशालमञ्जिका

राजशेखर विरचित 'विद्वशालमञ्जिका' चार अङ्कों की एक नाटिका है। इसका कथानक इस प्रकार है—लाट्यप्रदेश के अविपति नृपतिश्रेष्ठ चन्द्रवर्मा के एक पुत्री पैदा हुई। निष्पुत्र होने के कारण उसके दूतों ने मन्त्रों से पुत्रोत्पत्ति की सूचना दी। उन लोगों ने उस पुत्री को पुत्रवेश में सम्राट् विद्याधरमल्ल के संदर्शनार्थ बड़े सफल ढंग से पहुँचा दिया। विद्याधरमल्ल अपने मित्र विदुषक से कहता है कि आज मोर के समय स्वर्न में कमनीय अङ्गों वाली अञ्जला दिखलाई पड़ी। मैंने उसे पकड़ने का प्रयत्न किया किन्तु वह अपने मोती के हार को छोड़कर अन्यत्र चली गई। इधर राजा के मंत्री भागुसयण को इस रहस्य का ज्ञान था कि मृंगाकवर्मन् कन्या ही है और जिसके साथ उसका पाणि-

१. Keilhorn, Epigraphia Indica i, 171

ब्रह्म संस्कार सम्पन्न होगा वह चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा । अतएव वह मंत्री इस बात का प्रयत्न करता है कि विद्याधरमङ्ग एवं मृगांकवर्त्मन परस्पर प्रणयवृत्त में बँध जायें । पुनः संयोगवश राजा अपनी चित्रशाला में अपनी स्वप्नगत प्रेयसी की स्तुति हुई मूर्ति ( शालभञ्जिका ) देखकर उसके गले में मोतियों का हार डाल देता है । यह प्रथम अङ्क का कथानक है । दूसरे अङ्क में रानी कुन्तलपञ्च-कुमारी कुवलयमाला का पाणिग्रहण संस्कार अपने मामा के पुत्र मृगांकवर्मा के साथ सम्पन्न करना चाहती है । इधर विदूषक के साथ राजा अपने स्वप्न की सुन्दरी मृगांकावली को प्रणय लेख पढ़ते हुए देखता है । इस प्रकार ये दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं । तीसरे अङ्क में नायक एवं नायिका का परस्पर मिलन होता है । चौथे अङ्क में रानी ईर्ष्या करने के उद्देश्य से मृगांकवर्मा को वस्तुतः बालक ही जानकर उसे हर्षविश में रखकर राजा के साथ विवाह कर देती है । किन्तु रानी स्वयं ही टली जाती है । उधर चन्द्रवर्मा का प्रधान दूत आकर सूचित करता है कि मेरे राजा ने पुत्रहान होने के कारण मृगांकावली को पुत्र प्रतिद्वि किया । अब उन्हें पुत्र की प्राप्ति हो गई है । अन्त में रानी मृगांकावली का विवाह राजा के साथ कर देती है, कुवलयमाला का भी विवाह उनसे कर देता है । इस प्रकार इस नाटिका का कथानक अत्यन्त रोचक है ।

नाटिका में शृंगार रस प्रधान होता है, अतएव 'विद्विशालभञ्जिका' भी शृंगाररस से परिपूर्ण है । राजशेखर के हर्ष-सीन्दर्य की कल्पना देखिए—

चक्षुर्मोचकमम्बुजं विजयते वक्रत्रस्य मित्रं शशी

भ्रूवृक्षस्यसनाभिमन्मथघनुलांघण्य पण्यं वपुः ।

रेखा काचि रदच्छदे च सुतनोगात्रि च तत् कामिनीं

मेनां वर्णयिता स्मरो यदि भवेद्वैदग्ध्यमन्यस्यति ॥ ( प्र० अ०, ३३ )

और भी

मात्रानलितमण्डनभ्रू वदनं किञ्चित्प्रगल्भे दृशी

स्तोकोद्भेद-निवेशितस्तनमुरो मर्ष्यं दरिद्राति च ।

अस्य सञ्चरनं पनं च फलया मत्वद्भ्रमेणी हृद्यः

सत्संकार इव स्मरकमुद्गदा तद् दौषनेनारितः ॥ ( प्र० अ०, ४० )

प्रभाव-वर्णन, सौन्दर्य-वर्णन, वस्तु-वर्णन और चरित्रिका का वर्णन भी अत्यन्त सज्ज-व है । यथा—प्रभाव-वर्णन ही देखिए—

मज्जत्यपरवारिधिं रजतपिण्डपाण्डुः शशी

नमन्ति जलबुद्बुद्युतिसपहस्यस्तारकाः ।

कुरष्टकविपाण्डुरं दधति घाम दीपाङ्कुरा-

श्चक्रोरनयनारुणा भवति दिक् च सौवामणी ॥ (च० अं०, १)

( चाँदी के गोले के समान गौरवर्ण चन्द्रमा पश्चिम समुद्र को जा रहा है, पंक्तिबद्ध तारागण पानी के बुलबुले की भाँति झुक रहे हैं । घरों के दीपक की ली कुटज पुष्प की भाँति उज्वल हो रही है । पूर्व दिशा चक्रों के नेत्रों की भाँति लाल हो रही है । )

घत्ते पद्मलता दलेप्सुदपरि स्वं कर्णतालं द्विपः

शम्पस्तम्बरसान्निपच्छति शिखी मध्ये शिखण्डं शिरः ।

मिथ्यालीढमृणालकोटिरसमाद् दद्राङ्कुरं शूकरो

मथ्याह्ने महिपरच वाञ्छति निजच्छायं महाकर्दमम् ॥ (प्र० अं० ४३)

( पद्मलता के दलने का इच्छुक हाथी दोपहर की गर्मी से व्याकुल होकर अपने ऊपर अपने बड़े-बड़े कानों को चला रहा है । घासों के रसास्वादन को त्यागकर भयूर अपने शिर को अपने पंखों के अन्दर छिपा रहा है । सूअर ने कमल की बड़ को खोद-खोदकर खाना बन्द कर दिया है । सुअर और भँसे अपने शरीर पर लेप करने के लिए गहरे कीचड़ की इच्छा कर रहे हैं ) उपरोक्त श्लोक में पशुगण गर्मी से कितना व्याकुल हो रहे हैं, इसका कितना ही स्वाभाविक चित्रण हुआ है ।

पदध्वनि से भी पदार्थ की प्रतीति कराने में राजशेखर अत्यन्त निपुण है ।

‘अमन्दमणिनूपुरक्वणनचाक्षरक्रमं,

ज्ञानजज्ञाणितमेखलं स्त्रलिततारहारच्छटम् । ( द्वि० अं० ६ )

इस नाटिका में लालित्य यत्र-तत्र-सर्वत्र भरा पड़ा है । इसका मंगलाचरण ही लालित्य से मरा हुआ है—

कुलगुहरबलानां केलिदीक्षाप्रदाने परममुद्वदनंगो रोहिणीवत्तमस्य ।

अपि कुमुमपृषत्कैर्देवदेवस्य जेता जयति सुरतलीलानाटिकासूत्रधारः ॥

विद्ययालमञ्जिका में लोकौक्तियों एवं सूक्तियों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है । यथा—

ध्रियः प्रसूते विपदो वृणद्धि यथांसि दुग्धे मलिनं प्रमाष्टि ।

संस्कार-शौद्धयेन परं पुनीते शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः ॥ (प्र० अ० ८)

‘न खलु अनुत्पीडितः सहकार-पृष्ठ-ग्रन्थिः रससर्वस्वं मुञ्चति’ आदि, आदि ।  
मुहाबिरों का भी प्रयोग दर्शनीय है—‘वरं तत्कालोपनतस्तिचिरः, न पुनर्दिवसान्-  
न्तरितो मयूरः’ ‘यदरिष्टमधिरूढा कारवली-वल्लरी किमुच्यते कटुकत्वं प्रति’ ।  
(क्रमशः प्र० अ०, च० अ०)

इनकी इस नाटिका में यद्यपि प्रवाह की शिथिलता पायी जाती है, तथापि इसमें भावों को अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त किया गया है । आँसुओं के गिरने का कैसा अनूठा वर्णन है—

अन्तस्त्वारतरलितजलाः स्लोकमुत्पीडभाजः

पश्माप्रेषु प्रसृतपृषतः कीर्णधाराः क्रमेण ।

चित्तातङ्गं निज-गरिमतः सम्यगासृजयन्तो

निर्यान्वत्याः कुबलयदशो बाष्प-वारा प्रवाहाः ॥ (तृ० अ० २४)

(नील कमल के समान नेत्रों वाली इस सुन्दरी के आँसु पहले पुतलियों से सरल-भाव को प्राप्त हुए, क्रमशः थोड़ा सा दबाव पढ़ने से बरौनियों के अप्रभाग पर बूँदों के रूप में फैल गए । तदनन्तर परस्पर झुँघ कर एक धारा में परिवर्तित हो गए और अब अपनी गुदता से आन्तरिक पीड़ा को सम्यक् प्रकार से प्रकट करते हुए प्रवाह के रूप में बाहर निकल रहे हैं ।) इसी प्रकार से और भी बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं । इन सब बातों को देखते हुए निम्न उक्ति यथार्थ ही प्रतीत होती है—

पातुं धोत्र-रसायनं रचयितुं वाचः सतां सम्मता

द्युत्सृजति परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रस-स्रोतसः ।

भोक्तुं स्वादुफलं च जीवित-तरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं

तद् भ्रातः ! शृणु राजशेखर कवेः सूक्तीः मुवास्वन्दनीः ॥ (प्र० अ० ७)

प्रथम अङ्क में राजा की यह उक्ति “अहो ! गाहन्यम् ! अहो ! शिखरिणी पाठः ! अहो ! सूक्ति-युक्ता वाचः ! अहो ! हृद्या वैदर्भी रीतिः ! अहो ! मायुर्य पर्याप्तम् । अहो ! निप्रमादः प्रसादः” । पूर्णरूप से विद्वत्कालमञ्जिका नाटिका पर भी लागू होता है ।

## श्लोकानुक्रमणिका

अ		किमु परमपरैः परोपकार	३
अकङ्कगमकुण्डलं धरणि	७५	कुन्दलतायां विमुक्त	२
अग्रान्तरे ललितहार	१२	कुलगुहरबलानां	१
अन्तस्तारातरलितजलाः	८७	क्रमपरिणतरेखामांसलैरङ्ग	२५
अमन्दमगिनूपुरकणनचारुचारिक्रमं	४५	क्रमसरलितकण्ठप्रक्रमह्लासितोर	६४
अयि तव विद्याधरमद्भदेव	५८	कथितदुग्धमुग्धकरतरलित	७३
अयि पिबत चक्रोराः	७७	क पातव्या ज्योस्त्रा	१३
अस्याः स्वेदाम्बुविन्दुच्युततिलकतया	४६	ग	
अहो वपुःश्रीर्लिखितुर्जनस्य	२४	गर्भं ग्रन्थियु धीरुधां सुमनसो	१५
आ गंगापातपूतप्युतनलिनतलात्	११९	गोनासाविनियोजितापत	२
आलिखितामिव चेतः	१०	च	
इयं चरणकुङ्कुमच्छुरितकुट्टिमा	४८	चक्षुर्मेचक्रमशुजं विजयते	२३
इह विचकिलचापे सन्दधत्	९९	चञ्चलचरणचण्डचारक्रम	४५
इह हि नववसन्ते	१९	चन्द्रं चन्दनकदर्मेन लिखितं	५३
इ		चन्द्रो जडः कदलिकाण्डमकाण्डशीत	४३
उत्तालालकमञ्जनानि कधरीमारेषु	४४	बेलाञ्जलेन चलहारलताप्रकाण्डै	४६
उत्तंसः केकिपिच्छैर्भरकतवलपरयामले	७२	ज	
उपप्राकाराप्रं प्रहिणु नयने	२०	जनानन्दश्चन्द्रो लसति	७३
क		जाने स्वप्नविधौ ममाद्य	१०
कण्ठे मौक्तिकमालिकाः स्तनतटे	७८	जलाद्रैः संस्थानं विसृक्सिलयैः	९६
कथय किमिह बाले	१२	जातः सम्प्रति मे कुलैकतिलकः	११४
कथं ते तत्क्षणस्फुटितशुक्तिसंपुट	५१	डोलालीलाः शसितमरुतश्चक्षुषी	१०१
कथञ्च स्वया ज्ञायन्ते	५८	त	
कन्येति सूचयति वेप-विशेष	२४	तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशि-कथा	८
कारुमिः कारितं तेन	७	तनुलम्भा इव ककुभः	७२
कार्णाटो युद्धनाटये चतुरतरमतिः	११८	तरङ्गसदृशोऽङ्गने पततु	८९
		तरुणीं कुरुश्रियमिव शनैरेव	३



रास्मिन् पञ्चदशे स्मरे भगवता	३६	म	
तापोऽग्निः प्रसृतिरपचः प्रचयवान्	५४	यन्द्रादरः कुसुमपत्रिषु पेलपेषु	३०
तारान्तः पुरवान् विपत्यपि शशी	१००	अपि निरक्षितरोपचारयोग्यं	९१
नालीदलं यदकटोरतरं यदध	१५	भाप्रानर्तितमण्डनभ्रुवदने	२८
द		मानो यासां न स्रष्टितः	५
रशा दग्धं मनसिजं	१	सुखाऽनष्टः सुसुमविनिपान्	८०
देवीकौपकशायितं न शमिता	१८०	मूले बालधि-वीरघां सुरमयी	५०
देव्या निषायोरमि वामपादं	६६	सृगालमेतद्ब्रह्मकीकृतं तथा	८२
द्विश्रैष्वोस्त्रि पुराणमौक्तिकमणि	६	य	
ध		यत् परयन्ति स्रष्टियपाद्भ्रमरणि	१०१
धत्ते पद्मलता दलेऽसुरपरि स्वं	३२	यत्तालीदलपाकपाद्भ्रुवदने	५०
न		यद् भ्रूलते तरलिते	२९
नखदलितहरिद्राप्रथिमौरे	७९	यन्मन्नुसिञ्जितमितो रदाना-मगीनां	२०
नयनच्छलेन सुतनोर्बदनजित	११०	यस्य कृते बहसि रुजा	८८
न स्वप्नानुभवस्य कश्चिदपरः	२०	ये दोटाकैलिकारा मनसि सृगहशा	१८
निःसुनुना प्राक् परिकल्पिताऽमृन्	१०३	येनोत्पलानि च दारी च	२६
निविडकण्टकितकण्डुकरधं	५२	ये पूर्वं यवसूचिसूत्रमुहदो	७५
निचंद्रासरशोषविण्डकरणं	५४	र	
नो मालतीदाम विमर्दयोग्यं	६६	रजनिचरमयामेष्वादिभन्ती	९५
प		ल	
पाणि प्रेङ्गणतो विशीर्णपांसः	८५	लंकाशोण मालिकातरलिनो	१९
पातुं श्रोत्ररसायनं रचयितुं	४	लाटीधम्पकपिञ्जरेरवपवैर्दुर्वाभिर्नैः	१०४
प्रणालीदीर्घस्य मतिकलमपाद्रस्य	१११	लाटेन्द्रधन्ववर्मा भरपतिविलसः	४
प्रियाविरहमहोष्णामर्गं	८०	य	
प्रैयान् मे दन्तिदन्ता प्रवसद्सुरयं	११९	वरस्रष्टीञ्जितलञ्जिनेन्दुचदिदं	५०
य		यामात्रं पृथुलमनमनवकिर्तं	१२०
यागान् संहर सुख कानुंजलतां	१५	विषसे सोह्येवं कतरदिह	८५
भ		विलोयेन्दुः सापादसृष्टरमनापी	३६
भवनभुवि सुगन्तस्वार	१११	विदन्तीनां घ्रातुं अघनदिनिवर्षी	३२
भाषां दासश्च पुत्रश्च निर्घनाः	११६	व्यञ्जमरनः श्वामधेगी	८३
मिन्दानः सुन्दरीनां पतिषु	०	यज्यपरपारिधि रजतेविण्डनाण्डुः	९२

श			
शिष्यसे कथं खलु प्रसरत्	७८	सुतनुरियमितस्तत्र चित्रे	३०
शिक्षामगिरितोऽरुणस्तिलकयत्नं	४८	सुरानभरत्रिसप्तगविलासिनी	१८
शांतांशुर्विपसोदरः फणमृतां	८३	सूतिर्दुग्धसमुद्रतो भगवतः	७३
श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः	६१	सैरन्ध्री करकृष्टकङ्कणसर	५५
ध्रियः प्रसूते विपदो रुग्द्धि	४	सौधादुद्विजते त्यजन्त्युपवनं द्वेष्टि	६१
स		स्मरशरधिनिकाशं कर्णपाशं	४६
सद्यश्चन्दनपङ्कपिच्छिलमिव	७३	स्वकण्ठकाण्डात् मुहुरोऽवतार्य	१०३
सपदि सखीभिर्निमृत्तं	१५	स्वप्नः किमेव किमु	१३
सा कापि स्वप्नविधौ शृष्टा च	१९	स्वस्ति श्रीमन्त्रिपुर्यां तुहिनकर	११७
सा दुग्धमुग्धमधुरच्छवि	२७	ह	
सान्यं सम्प्रति सेवते विचकिलं	१६	हरन्ति हृदयानि यच्छूत्रगशीतला	९६
		हारोऽयं केरलद्वीविहसितशुचिभिः	११



॥ श्रीः ॥

# विद्धशालभञ्जिका

हिन्दीव्याख्योपेता

प्रथमोऽङ्कः

कुलगुरुरवलानां केलि-दीक्षा-प्रदाने  
परममुद्गदनङ्गो रोहिणी-वल्लभस्य ।  
अपि कुसुम-वृषत्कैर्देवदेवस्य जेता  
जयति मुरतलीलानाटिका-भूषधारः ॥ १ ॥

अपि च—

दृशा दग्धं मनसिर्जं जीवयन्ति दृशैव याः ।  
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वाम-लोचनाः ॥ २ ॥

स्त्रियों को रति-क्रीडा का मन्त्र देने में उनके कुलकृमागत गुरु, रोहिणी-  
वल्लभ चन्द्रमा के परम मित्र, कुसुम-शरों से देवदेव शंकर जी को भी जीतने  
वाले और संभोग-लीलारूपी नाटिका के सूत्रधार कामदेव जी सर्वश्रेष्ठ हैं ॥ १ ॥

और भी—

( शङ्कर जी के द्वारा ) दृष्टि से जला दिये गये काम को ( अरती ) दृष्टि से  
ही ( पुनः ) जो जीवित कर देती हैं, ( इस प्रकार ) शंकर जी को परास्त कर  
देने वाली उन परम मुन्दरियों की मैं स्तुति करता हूँ ॥ २ ॥

## विद्वशालमञ्जिका

( पुनः समाधाय )—

गोनासाविनियोजितायतजरत्सर्पाय वद्वीपधिः  
 कण्ठस्थाय विषाय वीर्यमहते पाणौ मणीन् विभ्रती ।  
 भर्तुर्भूतगणाय गोत्रजरतीनिर्दिष्टमन्त्राक्षरा  
 रक्षत्वद्रिसुता विवाहसमये हीता च भीता च वः ॥ ३ ॥

नान्द्यन्ते सूत्रधारः—( नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ) न जाने का पुनरद्य श्री-  
 युवराजदेवस्य परिपदाज्ञा ? नेपथ्ये गीयते—

कुन्दलदाए विमुक्क-मअरन्दरसाए वि चञ्चरीअओ ।  
 पणअप्परूढ-पेम्मभरभञ्जन-काअरभावभीअओ ॥ ४ ॥

( कुन्दलतायां विमुक्तमकरन्दरसायामपि चञ्चरीककः ।  
 प्रणयप्ररूढप्रेममरभञ्जनकातरभावभीरुकः ॥ ४ ॥ )

तरुणौ तरट्टिअं णिअ पिअं विअ चारूपसूणदिट्टिअं ।  
 रक्खइ णअइ धुणइ परिरम्भइ चुम्बइ चूदरट्टिअं ॥ ५ ॥

( पुनः समाहित होकर )

विवाह के समय ( वर शंकर जी को भयंकर उपकरणों से युक्त देखकर )  
 लज्जाई और डरी हुई पार्वती जी, जिन्होंने शंकर जी के वाहन बैल के नधुनों में  
 ( नकेल के रूप में ) लगाये गये दीर्घकाम पुणने साँप का प्रतीकार करने के लिए  
 ओपधि बाँध लां, ( शिव जी के ) कण्ठ में स्थित विष के प्रतीकारार्थ हाथ में  
 मणियाँ धारण कर लीं तथा भूतगण के निवारणार्थ जिन्हें कुल की वृद्धी स्त्रियों  
 ने मन्त्राक्षर सिखा दिया, आप लोगों ( दर्शकों अथवा पाठकों ) की  
 रक्षा करें ॥ ३ ॥

नान्दी समाप्त होने पर सूत्रधार—( नेपथ्य की ओर देखकर ) मैं नहीं  
 जानता कि आज श्री युवराजदेव का समाधी क्या आज्ञा है ? नेपथ्य में गाया  
 जा रहा है—

कुन्दलता के मकरन्द रस को त्याग देने पर भी प्रणय-प्रेमाधिक्य के भङ्ग  
 होने की शंका से संशंकित भ्रमर, कुकुरभी की भाँति समृद्ध, सुन्दर पुष्परूपी

( तरुणों कुरुभ्रियमिव शनैरेष चारुप्रसूनकदृष्टिम् ।

रञ्जति नयति महते परिरभते चुम्बति चूतयष्टिम् ॥ ५ ॥ )

सूत्रधारः ( आकर्षणं ) अये । यायावरेण दौहित्रिणा कविराजशेखरेण विरचिताया विद्व-शालभञ्जिका-नामनाटिकाया वस्तूपक्षेपो गीयते । ( विभाव्य ) तन्मन्ये तदभिनये श्रीयुवराजदेवस्य परिपदाज्ञा । तदहमपि मन्त्रिणो भागुरायणस्य प्रतीकवृत्त्या शिष्यैर्विहितचारुनाम्नोऽन्तेवासिनो हरदासस्य भूमिकां सम्पादयामि ।

( आकाशे )—सखे सोमदत्त ! किमात्थ ? तदकालजलदस्य प्रणप्तुस्तस्य गुण-गणः किमिति न वर्ण्यते ? तत्रैव शृणु—

किमु परमपरैः परोपकारव्यसननिघेर्गुणितैर्गुणैरमुष्य ।

रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकलानिलयः स यस्य शिष्यः ॥ ६ ॥

आकर्षणं च गोष्ठीगरिष्ठस्य कृष्णशङ्करवर्मणो वाचः—

दृष्टिवाली रसाल की शाखा को धीरे से जाकर अपनाता है, आदर करता है, हृदय से लगाता है और चूमता है ॥ ४-५ ॥

सूत्रधार—( सुनकर ) अये ! याथावर में उत्सन्न दुष्टिक ( दुर्दुक्त ) के पुत्र कविराजशेखर-विरचित विद्वशालभञ्जिका का वस्तूपक्षेप ( संक्षेप में नाटक का सम्पूर्ण वृत्तान्त ) गाया जा रहा है । ( समझ कर ) तो मैं यह समझता हूँ कि उसका अभिनय करने के लिए श्री युवराज देव की समा की आज्ञा है । तो मैं भी मन्त्री भागुरायण, शिष्यों ने जिनका प्रतीकात्मक नाम चारु रक्ता है—के शिष्य ( चारायण ) हरदास की भूमिका ( अभिनय ) का सम्पादन करूँ ।

( आकाश ) में सखे सोमदत्त ! क्या कहते हो ? अकालजलद के प्रपौत्र ( राजशेखर ) का गुण-वर्णन क्यों नहीं करते ? उसी विषय में सुनो— रघुकुलतिलक, सकलकलाओं के आगार, महेन्द्रपाल जिनके शिष्य हैं, परोपकार के व्यसनी इन ( राजशेखर ) के प्रकृत गुणों से बढ़कर और क्या है ॥ ६ ॥

गोष्ठी-गरिष्ठ ( विद्वत्-स्तमा में सर्वश्रेष्ठ ) कृष्णशंकर वर्मा के वचनों को

पातुं श्रोत्ररसायनं रचायितुं वाचः सतां सम्मता  
व्युत्पत्तिं परमामवाप्नुनवाधि लब्धुं रसस्रोतसः ।  
भोक्तुं स्वादुफलं च जीविततरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं  
तद् भ्रातः ! शृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दनीः ॥ ७ ॥

( निष्क्रान्तः )

इति प्रस्तावना

( ततः प्रविशति हरदासः )

हरदासः—( सधिरःकम्भम् ) अहह ! प्रज्ञाप्रकर्षः सर्वेषामनुपरि यत्सति ।

शुद्धम्—

श्रियः प्रसूते विपदो रोगाद्धि यशांति दुग्धे मलिनं प्रमाष्टि ।  
संस्कारशौद्धयेन परं पुनीते शुद्धा हि बुद्धिः फिल कामधेनुः ॥ ८ ॥  
तदिदं चाम्भद्गुरोश्चरितेषु परसुफलभ्यते । तथा हि—  
लाटेन्द्रश्चन्द्रवर्मा नरपतिविलकः कल्पिता तेन पुत्री

निष्पुत्रेणैकपुत्रः कथितमपि तथा मन्त्रिणे तस्य चारैः ।

मुनी—यदि तुम कर्णों के लिए रसायन पाना, लज्जन-सम्मत बदनो को रचना, परम विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त करना, रस-स्रोत को पचनाया को पाना ( वहाँ तक पहुँचना ), बाँधनकर्ता दुग्ध के मधुर फल का आस्वादन करना चाहते हो तो भाई ! राजशेखर कवि का अमृत-वर्षिणी सूक्तियों को सुनो ॥ ७ ॥

( रंग मद्ध से चला गया )

इति प्रस्तावना ।

( तदनन्तर हरदास प्रविष्ट होता है )

हरदास—( धिर कँपाते हुए ) अहह ! प्रहृष्ट बुद्धि जगत्ते उत्तम है । कहा गया है—ममन्त कैमर्षो को उत्तम करता है, विपत्तियों का अवरोध करती है, यश-प्राप्ति कराती है, धन को जिनट करता है और संस्कारों को शुद्ध कर परम पवित्र करती है । ( इस प्रकार ) शुद्ध बुद्धि निधय ही कामधेनु है ॥ ८ ॥

यह हमारे गुरु के चरितों में पूर्ण रूप से मिलता है । यथा—लाट प्रदेश के अभिराठ नृपतिभेष्ट चन्द्रवर्मा के एक पुत्री पैदा हुई । निष्पुत्र होने के कारण उसके दूतों ने मन्त्रों से पुत्रोत्पत्ति की सूचना दी । उस पुत्री को पुत्रवेद्य में

तस्मान् पुत्रावकल्पच्छलत इह महाराजसन्दर्शनार्थं

तेनाद्यानायितासौ निरुपधि दधता सायु पाद्गुण्यचक्षुः ॥९॥

( आकाश- ) अये ! चारायण ! किमात्य ?

अन्ते उरिकासदृसपरिवारस्स महाराजस्स किं तीए विणा विसूरदित्ति ?  
( अन्तःपुरिकासदृशपरिवारस्य महाराजस्य किं तथा विना विस्रंसति । )

हं प्रति मा मैवम् । अत्र किंचन मंत्रवीजमन्ति, तन् कार्यसिद्धा-  
वाधिर्भविष्यति ।

( नेरय्ये ) पच्चूससुहपडिबुद्धस्स सुप्पभादं देवस्स । संपदं खु—  
( प्रत्यूषसुखप्रतिबुद्धस्य सुप्रभातं देवस्य । संप्रतं खलु )—

माणो जाण ण खण्डितो सस्सि अरुक्क्रेणेण वित्थारिणा

हुंकारा णअपंचमस्स वि चिरं जासु ट्ठिदा कुंठिदाः ।

पच्चूसाणिअदोलणेण ललणा मोत्तूण माणग्गहं

चूडाचुंविदयल्लहग्गचलणा वट्टन्ति ताः संपदम् ॥ १० ॥

( मानो यासां न खण्डितः शशिकरोत्क्रेण वित्थारिणा

हुङ्काराः नवपञ्चमत्यापि चिरं वासु स्थिताः कुण्ठिताः ।

सत्राद् ( विद्याधर मल्ल के संदर्शनार्थं बड़े सफल ढंग से राजनीति<sup>१</sup> के पद्गुणरूपी  
नेत्र रखने वाले उन्होंने ( मागुरायण ने ) यहाँ मैंगना लिया ॥ ९ ॥

( आकाश में ) अरे चारायण ! क्या कह रहे हो ? महाराज के रनिवास में  
हजारों रानियों हैं । उस ( कन्या ) के बिना उनको क्या दुःख !

उनके प्रति प्रेमा मंत कहो । इसमें कोई रहस्य है वो कार्य-सिद्धि के अनन्तर  
प्रकट होगा ।

( नेरय्य में ) तड़के सुख से अगे हुए देव को प्रमात सुखकर हो । इस  
समय—

जिन ( मानिनी ) त्रिषों का मान चन्द्रमा की ( उद्दोषक ) किरणों से  
खण्डित नहीं हुआ, जिन पर कोकिल की हुङ्कार कुण्ठित रही—कुछ प्रभाव न  
डाढ सकी, उनका प्रातःवेला के वायु-संचार से मान-भङ्ग हो गया और अब

१—राजनीत के छः गुण निम्न हैं—मन्धि, विग्रह, यान ( चढ़ाई ),  
आमन ( विश्राम ), ईर्ष्यामाद और संश्रय ।

## विद्वशालभञ्जिका

प्रत्यूषानिलदोलनेन ललना मुक्त्वा तु मानग्रहं

चूडाञ्जित वल्लभाग्र चरणा वर्तन्ते ताः सांप्रतम् ॥ १० ॥ )

( पुनस्तत्रैव ) भो भो वंदि-विंदारआ मंतिविणिम्मिद्महाराजवास-  
घरपेरंतवासो महामल्लओ तुहो भणदि को यिअ कालो विबुद्धस्स  
विज्जाहरमल्लदेवस्स विबुधस्स । ता कत्तो पभादभोभावलि ण गायघत्ति ।

( भो भो वन्दिहृन्दारकाः, मन्त्रिविनिर्मापितमहाराजवासग्रहपर्यन्तवासी  
महामल्लको सुप्मान् भणति क इव कालो विशाघरमल्लदेवस्य विबुधस्य, तत् कस्मात्  
प्रभातभोगावलि न गायय ? )

( तत्रैव )—

जय जयोज्जयिनीभुजङ्ग ! सुप्रभातं भवतः । सम्प्रति हि—

द्वित्रैर्व्योम्नि पुराणमौक्तिकमणिच्छायैः स्थितं तारकै—

ज्योत्स्नापानभरालसेन वपुषा मुनाश्चकोराङ्गनाः ।

( मान छोड़ देने के कारण ) उनके मस्तक प्रियतमों के चरण चूम रहे हैं—  
उन्होंने मान त्याग कर प्रियतमों के आगे आत्मसमर्पण कर दिया ॥ १० ॥

( पुनः वही )

हे हे बन्दी जनो ! मन्त्री द्वारा ब्रनवाये गये महाराज के वासग्रह के पास  
ही रहने वाले महामल्लक तुम लोगों से कह रहे हैं—महापण्डित विद्याधरमल्ल  
देव को जगै अधिक समय हो गया । क्या तुम लोग प्रभातदिपयक गान नहीं  
गाते हो ?

( वही ) हे उज्जयिनी के स्वामी ! प्रभात आप को मंगलकारी हो । इस  
समय—

पुराने मोती और मणियों की साँ कान्ति वाले दो-तीन तारे आकाश में  
स्थित हैं ( दिखाई दे रहे हैं ), चकोरियों बन्दिका को छक्कर पंने के  
कारण शरीर के अडसा जाने से सो गईं । रसयुक्त मधु के छत्ते का  
छवि वाला चन्द्रमा अस्ताच्छ पर अस्त को प्राप्त हो गया । प्राची दिशा विदाल-



यातोऽस्ताचलमस्तमुद्रसमधुच्छत्रच्छविश्चन्द्रमाः

प्राची वालविडाललोचनरुचां जाता च पात्रं ककुप् ॥ ११ ॥

अपि च—

भिन्दानः सुन्दरीणां पतिषु रूपमयं हर्म्यपाराधतेभ्यो

वाचालत्वं ददानः कवयितृषु गुणं प्रातिभं सन्दधानः ।

प्रातस्त्यस्तूर्यनादः स्थगयति गगनं मांसलः पांसुतल्पा-

दस्वल्पादुत्थितानां नरवरकरिणां शृंखलाशिक्षितेन ॥ १२ ॥

हरदासः—महत्येव प्रभाते प्रबुद्धो देव इति मंत्रि-मंत्र-प्रभाव एवैपः ।

यतः—

कारुभिः कारितं तेन कृत्रिमं स्वप्रहेतवे ।

सुपिरस्तम्भसञ्चारं नृपतेर्वासमन्दिरम् ॥ १३ ॥

तदहमपि सुपिरस्तम्भप्रवेशसंचारापसारं वासगृहनिर्मितवतां तथा-

वालक के लोचनों की कान्ति को प्राप्त हुई—विडाल—वालक के नेत्रों के रंग की हो गई ॥ ११ ॥

और भी—

तुरही अथवा मृदङ्ग का यह प्रातःकालीन गंभीर स्वर सुन्दरियों के पति-विषयक क्रोध को विदीर्ण करता, महल के कपोतों को वाचालता देता, कवियों में प्रतिभासम्बन्धी गुणों को युक्त करता—उनकी काव्य-प्रतिभा को उद्दीप्त करता हुआ, धूल-शयन से उठे, राजा के, हाथियों की शृङ्खला की खनखनाहट से गगन-मण्डल को भर दे रहा है ॥ १२ ॥

हरदास—बड़े ही तड़के महाराज जग गये, यह मंत्रों के मंत्र का ही प्रभाव है । क्योंकि—

उस ( मंत्री ) महाराज के वास-मन्दिर को शिल्पियों द्वारा छिद्रों से युक्त स्तम्भों के कारण ( वायु, ध्वनि आदि का ) सञ्चार वाला बनवाया है ॥ १३ ॥

तो मैं भी छिद्रों से युक्त स्तम्भों के कारण जिसमें ( वायु, ध्वनि आदि का ) प्रवेश, संचार और अपसार होता है, ऐसे वास-गृह का जिन्होंने निर्माण

विधां रत्नैश्चतुष्पिकां च करिष्यतां शिल्पिनां मन्त्रिसमार्दिष्टं दापयितुं  
महाभाण्डागारं प्रति यास्यामि । ( इति निष्क्रान्ता ) ।

इति विष्कम्भकः

( ततः प्रविशति सुनोदितः सोत्कण्ठो राजा द्वारावस्थितो विदूषकश्च )

राजा—( साङ्गभङ्गमुत्थाय पठति— )

तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशि-कया हा हेम ? सा चेद् द्युति—  
स्तच्चक्षुर्यदि हारितं कुवलयैस्तच्छेत् स्मितं का मुधा ।  
धिक्न्दर्पधनुर्भ्रुवौ च यदि ते किं वा बहु व्रूमहे .  
यत् सत्यं पुनरुक्त-वस्तुविरसः सर्गक्रमो वेधसः ॥ १४ ॥

विदूषकः—( उपसृत्य ) चङ्दद्दु भवं । ( वर्णतां भवान् । )

क्रिया और रत्नों से उसी प्रकार की चतुष्पिका<sup>१</sup> का निर्माण किया है, उन  
शिल्पियों को मंत्री द्वारा आदिष्ट ( धन ) दिलाने महाभाण्डागार को जाऊँगा ।  
( ऐसा कहकर रंगमञ्च से चला गया । )

इति विष्कम्भक

( तदनन्तर सोकर उठा हुआ शौकान्वित राजा भीर द्वारावस्थित विदूषक  
रंगमञ्च पर आते हैं । )

राजा—( अङ्गों को ऎँटता हुआ उठकर कहता है )—यदि उसका मुख  
( संसार में ) है, तो चन्द्रमा का वर्णन समाप्त हुआ अर्थात् उसके मुख के  
सामने चन्द्रमा की शोभा व्यर्थ है । उसकी शरार-शान्ति का तुलना में मुखर्ण  
निष्फल है । उसकी भौंहों के सामने कामदेव का धनुष क्या है ? अथिक् क्या  
कहें—सचमुच अनावश्यक पालतू इन वस्तुओं का पुनर्निर्माण करने से बिधाता  
का सृष्टिक्रम व्यर्थ सा लगता है ॥ १४ ॥

विदूषक—( निकट जाकर ) आप फलें-फूलें ।

१—चतुष्पिका—चार स्थलों पर टिका हुआ कमरा अथवा पुष्करिणी  
( तालाब )

राजा—( तदेव पठति )

विदूषकः—अहो ! अपुत्रो कोवि पाभादिओ अजज्ञयणविही पिअ-  
चअस्सम्स । ( अहो ! अपूर्वः कोऽपि प्रामातिकोऽव्ययनविधिः प्रियवयस्यस्य । )

राजा—( तथैव ) ।

विदूषकः—अहो अस्स हिअअक्खेवो ता किं णु खु एदं । ( विचिन्त्य )  
भोटु अपुत्रन्धिस्सं । णहु अणुप्पीडिओ सहआरपिट्ठ-गंठी रस-सञ्चम्सं  
मुञ्चदि । ( पुरतः स्थित्वा ) परिणामफुट्टिअं विअ दाडिमिफलं फुट्टणभूइहं  
चट्टदि मे हिअअं।कोट्टहलेण, ता जघापत्तु युथं आचक्खं—तो कज्ज-  
रहस्सेण संभावेदु मं पिअचअस्सो । ( अहो अस्य हृदया क्षेपः । तस्मात्  
किं नु खल्वेतत् । भवतु अनुमन्त्स्यामि अनुबन्धं करिष्यामि । न खलु  
अनुत्पीडितः सहकारपृष्ठग्रन्थिः रस-सर्वस्वं मुञ्चति । परिणाम स्फुटितमिव दाडिमी  
फलं स्फुटनभूयिष्ठं वर्त्तते मे हृदयं कौतूहलेन, तस्मात् यथाप्रस्तुतं आचक्षणः  
कार्यरहस्येन संभाषयतु मां प्रिय वयस्यः । )

राजा—( तदभिमुखमवलोक्य ) अये चारायण ! सखे ! कथं न कथ-  
यामि,— लघूभसुहृत्सञ्चारितरहस्यं हि चेतः-संविभक्तचिन्ताभारमिव  
विष्यति ।

राजा—( उसो श्लोक को पढ़ता है । )

विदूषक—अहो ! प्रिय सखा का प्रामातिक पाठ का ढंग कुछ अपूर्व सा है ।

राजा—( उसी प्रकार पढ़ता है । )

विदूषक—अहो ! इनका दृश्य कैसा विशिष्ट सा है ! तो क्या बात है ।  
( सोचकर ) अच्छा, सम्बन्ध स्थापित करूँ जिससे प्रस्तुत का कथन करता  
हुआ प्रिय सखा मुझे रहस्य से परिचित कराये । आम की पृष्ठ ग्रन्थि ( टेंपी )  
बिना दबाए रस नहीं निकालती । कौतूहल से मेरा हृदय पकने पर फट जाने  
वाले अनार के समान फटा जा रहा है ।

राजा—( उसकी ओर देखकर ) अये चारायण ! सखे ! क्यों न कहूँगा ?  
मित्र से रहस्य प्रकट कर देने से चिन्ता-भार बँट सा जाता है और इस प्रकार  
मन हल्का हो जाता है ।

विदूषकः—अवहितोऽस्मि ( अवहितोऽस्मि )

राजा—जाने स्वप्रविधौ ममाद्य-कुलकोत्सेक्यं पुरस्ताद्भूत्  
प्रत्यूपे परिवेषमण्डलमिव ज्योत्स्नासपत्नं महः ।  
तस्यान्तर्नखनिन्तुपीकृतशरच्चन्द्रप्रभैरङ्गकै-

दृष्टा काव्यवला वलात् कृतवती सा मन्मथं मन्मथम् ॥ १५ ॥

विदूषकः—भोः सुट्टु क्सु तुमं महिला लंपडो जादो जा सा तए  
णम्भदामज्जपुत्तिण्णा दिट्ठा कुवलयमाला णाम जाव तग्गवं किं पि  
अणुसंधेमि दाव एसो अवरो गंहरस उवरि फुडिडडिभदो । हुं तदो  
तदा । ( भोः सुट्टु खलु त्वं महिला लंपडो जातः । या सा त्वया नर्मदा  
मजनोर्त्तणां दृष्टा कुवलयमाला नाम यावत्दुगतं किमप्यनुसन्धामि तावदेपोऽपरं  
गण्डस्योपरि स्फोटिकोद्भेदः । हुम् तत्ततः । )

राजा—ततश्च ।

आलिखितामिव चेतः फलकतलेऽस्मिन् विकल्पवर्तिकया ।

बालां स्मरचित्रगतां विलोक्य जातोऽस्मि तद्वन्दी ॥ १६ ॥

( पुनन्तद्वक्त्रमित्यादि पठति )

विदूषकः—मैं स्थिरचित्त हुआ ।

राजा—मुझे भली भाँति ज्ञान है—आज भोर के समय स्वप्न में मण्डलाकृति  
तथा चन्द्रिका से प्रतिबन्दिता करने वालों दीप्ति मेरे सामने प्रकट हुई । उससे  
अन्दर नखों से साफ किये गये शरद् के चन्द्रमा की प्रभा के समान कमनीय  
अंग बालों अवला दिखाई पड़ी, जिससे बलपूर्वक मन्मथ ( कामदेव ) को सचमुच  
मन्मथ ( मेरी बुद्धि को नष्ट कर देने वाला ) कर दिया ॥ १५ ॥

विदूषक—अच्छा, तुम खी-लपट हो गये । जो तुमने नर्मदा में ज्ञान करने  
निकली कुवलयमाला ( स्त्री ) देखा, उसके विषय में जब तक कुछ अनुसन्धान  
करें तब तक यह दूसरी आपत्ति । हूँ ! इसके बाद ।

राजा—इसके बाद ( कामदेव चित्रकार ने ) मेरे इस मन रूची चित्रण  
पर विचल्य की मूल्का से उसे अंकित कर दिया । कामदेव ( चित्रकार ) की  
चित्रगता उत्त बाला को देखकर मैं अब उसका बन्दी बन गया हूँ ॥ १६ ॥

( पुनः उसी उपर्युक्त श्लोक को पढ़ता है । )

विदूषकः—तदो ( तवः )

राजा—शृणु श्रवणामृतम्, गण्डूपय मधु, पिब नयनामृतम् ।

हारोऽयं केरलस्त्रीविहसितशुचिभिः पङ्क्तिभिर्मौक्तिकानां  
सद्यः पाण्मासिकानां मम मन्दिरदृशा दत्तचन्द्रोदयश्रीः ।  
सोत्कण्ठं कण्ठदेशाद्भटिति कुचतटादो नमो-मन्मथाये-  
त्यन्तो यन्मध्यरत्नं छुरयति ककुभः कौङ्कुमोभिः प्रभाभिः ॥ १७ ॥

विदूषकः—( यज्ञोपवीतं परिमृश्य ) सुखकुसरज्जुकर्कशदारस्स मे  
बम्हणस्स वअणेण सच्चसिचिणत्तणं दे भोटु । ( स्वगतम् ) अहो दासीए  
पुत्त ! सिचिणइंदजालिअ ! जाणासि महा-मदीणं वि मदिचिबुभमं  
काटुं ( प्रकाशम् ) तदो ! ( शुक्ककुशरज्जुकर्कशदारस्य मम ब्राह्मणस्य वचनेन  
सत्यत्वन्त्वं ते भवतु । अहो दास्याः पुत्र ! स्वनेन्द्रजालिक ! जानासि महामती-  
नामपि मतिविभ्रमं कत्तुम् तवः । )

राजा—ततश्च ।

विदूषक—इसके बाद ।

राजा—कानों के लिए अमृत ( मधुर ) सुनो, मधु का आचमन करो,  
नयनामृत पियो ।

अभी पके मोतियों का यह हार केरल प्रदेश की स्त्री के हास से श्वेत  
लड़ियों से जिसका चन्द्रोदय को सी शोभा को मेरे मन्दिर नेत्रों ने ग्रहण किया,  
( नायिका द्वारा ) 'ओ३म् नमो मन्मथाय—' ऐसा पढ़कर उत्कण्ठापूर्वक,  
शोभता से कुच के ऊपर से ( हृद्यकर ) कण्ठदेश से ( निकालकर ) डाल दिया  
गया, जिसका मध्यरत्न कुंकुम की प्रभा से दिशाओं को छुरित कर रहा है ॥१७॥

विदूषक—( यज्ञोपवीतं रस्यं कर ) कुश का रस्सी की तरह कर्कश पत्रवाले  
मुश ब्राह्मण के वचन से तुम्हारा स्वप्न सत्य हो । ( स्वगत ) अहो दासीपुत्र !  
इन्द्रजालिक स्वप्न ! तू बड़े-बड़े बुद्धिमानों को मां विभ्रम में डालता है ।  
( प्रकाश ) इसके बाद ।

राजा—इसके बाद

कथय किमिह वाले ! का त्वमित्युल्लपंतां --  
 झटिति किल दुकूलस्याञ्चले धारयामि ।  
 अगमदथ निकेतात् काप्यसौ सारयन्ती  
 नय-कुवलयमालामांसलैर्दृष्टिपातैः ॥ १८ ॥

विदूषकः—अथ एकपल्लं कगदाए देवीए कि पडिचण्णं ? ( अथैकपयंङ्-  
 गतया देव्या कि प्रतिपन्नम् ? )

राजा—

अग्रान्तरे ललितहारलतानितम्य-  
 संवाहनस्खलितवेगतरङ्गिताङ्गी ।  
 देवी व्यपास्य शयनं धृतमानतन्तु-  
 रन्तःपुरं गतवती सह सौविदल्लैः ॥ १९ ॥

विदूषकः—अहो ! दे अणागरिअत्तणं कित्ति तुए पुरतो भवीअ  
 णाणुणीदा देवी केच्चिरं वा चन्द्रे पसादिदकरे अचिसट्टकंदोढा णीलु-  
 प्पलिणी चिट्ठदि । ( अहो ते अनागरिकत्वं किमिति त्वया पुरतो भूत्वा  
 नानुतीता देवी ? क्रियच्चिरं वा चन्द्रे प्रसादितकरे अविस्वद्योत्पला नीलोत्पलिनी ।  
 तिष्ठति । )

हे वाले ! वही, यहाँ क्यों, तू कौन है ! ऐसा कहते हुए मैं शीघ्र ही उसका  
 बन्धाञ्चल पकड़ता हूँ । ( इतने में ) कुवलयमाला मांसक दृष्टिपात से निर्भय  
 करती हुई पर से निकली ॥ १८ ॥

विदूषक—उसी शय्या पर देवी भी तो थी, उन्होंने क्या किया !

राजा—इस बीच में बदन पर ललित हार का लडियों के रहने के कारण  
 देवी का गमन-वेग बाधित हो जाता था, अतएव कम्पित शरीर वह शय्या  
 त्याग करके मान धारण कर अन्तःपुर के अनुचरों के साथ अन्तःपुर में  
 चली गई ॥ १९ ॥

विदूषक—आपकी अनागरिकता भी कैसी है ! आपने सामने जाकर देवी  
 को प्रसन्न क्यों नहीं किया ? चन्द्रमा के करों ( किरणों, शयों ) के फैलाने पर  
 नीलोत्पलिनी ( कुमुदों का सारथ ) कब तक अविकसितकुमुद रहेगा ?

राजा—(सखेदस्मितम्) तदनुध्यानपरतन्त्रचेतसा धारयितुं न पारिता किं पुनरनुनेतुम् ।

विदूषकः—सख्यं एव एदं किदं णडे दिट्ठे मुण्डिदे उवावट्ठो पइ मुण्डिदोत्ति । (सत्यमेव एतच्छ्रुतम्—नटे दृष्टे मुण्डिते उपविष्टः पतिमुण्डित इति ।)

राजा—(सखेदस्मितम्) भगवत्याशे ! सत्यम् प्रतिहतासि । ननु विचारय चिरम्—

क पातय्या ज्योत्स्ना भृतभुवनगर्भाऽपि तृपितै-  
र्मुणाली-सन्तुभ्यः सिचयरचना कुत्र भवतु ।

के वा पायामियो वत वकुलदाग्नां परिमलः

कथं स्वप्नः साक्षात् कुवलयदृशं कल्पयतु ताम् ॥ २० ॥

(स्मृतिमभिनीय हृदयदेशमवलोक्य च)

स्वप्नः किमेव किमु संविदियं तु साक्षाज्-  
ज्ञानं किमेतदुभयात्मकमन्यदेव ।

राजा—(खेद और स्मित के साथ) उत्त (स्वप्न में देखी गई मुन्दरी) के अनुचिन्तन में मैं उसे (देवी को) पकड़ भी नहीं सका, फिर अनुनय करने की क्या बात ।

विदूषक—नट को मुण्डित देखकर पति भी मुड़ाकर बैठा, इस (लोकौक्ति) को तुमने सच कर दिया ।

राजा—(खेद और स्मित के साथ) हे भगवति आशे ! सचमुच तुम कभी विनष्ट नहीं होती । देर तक सोचो—

मुन्न के अन्दर पैली चाँदनी को प्यासे कहाँ पी पाते हैं ? कमल-नाल के तन्तुओं से कन्न-रचना क्यों हो सकती है ? मौलसिरी पुष्पों की गन्ध कहाँ नापा या तौंचे जा सकती है ? स्वप्न साक्षात् (सत्य) कैसे हो सकता है ? कमलों के समान नेत्र वाली उस मुन्दरी की आप कल्पना कीजिए ॥ २० ॥

(स्मृति का अभिनय कर तथा हृदय को देखकर)

क्या यह स्वप्न है ? अथवा साक्षात् सत्य प्रतीति है ? अथवा क्या एक दूसरा ही उभयात्मक (सत्यासत्य-मिश्रित) ज्ञान है ? जो वह चञ्चल और

यद् दृश्यते न खलु सा तरलायताक्षी  
कण्ठप्रदेशमधिरोहति चैव हारः ॥ २१ ॥

विदूषकः—अण्णे निशापिण्डेण निजहारेण विप्पल्लोसि । ( नन्ने  
निशा-पिनडेन निजहारेण विप्रलब्धोऽसि । )

पद्या—( मद्नाकूतमभिनाय )

बागान् संहर सुख कार्मुक्त्वतां लक्ष्यं तव त्र्यम्बकः  
के नामात्र बयं क्षिरीपकलिकाकल्पं यदीयं मनः ।  
तत् कारुण्यपरिमहान् कुरु दयामस्मिन् विधेये जने  
स्वामिन् ! मन्मथ ! तादृशं पुनरापि स्वप्नाकृतं दर्शय ॥ २२ ॥

विदूषकः—एसो सिविणअल्लेहिं मोदएहिं गामं उवणिमंतेसि । ता  
एहि गटुअ देवीं पसादेसि । वरं तक्कालोपमदीं तित्तिरोण एण दिअहं-  
तरिदी मोरो । ( एण स्वप्नलक्ष्मीमोदकैमाम्नु तपनिमन्त्रयसे । उरनादेहि  
देवीं प्रसादयावः । वरं तक्कालोपनतस्तिचिरः, न पुनदिवसान्तरितो मरुः । )

बड़े-बड़े नेत्रों वाली सुन्दरी दोख नहीं पड़ती और यह हार मेरे कण्ठप्रदेश में स्थित है ॥ २१ ॥

विदूषक—मैं समझता हूँ कि रात में पहने हुए अपने ही हार द्वारा तुम छूटे गए हो ।

पद्या—( कामावेश को प्रकट कर )

बागों को बंधो खो, धनुष त्याग दो । जब शिव जी तुम्हारा लक्ष्य बन चुके  
हैं, तो हमारी, विषका मन क्षिरीप-कलिका की भाँति ( क्रोमल ) है, क्या  
गगना ! तो दयावान् होने के नाते इस सेवक पर दया करो । हे स्वामिन्  
मन्मथ ! वैया ही अद्भुत स्वप्न पुनः दिखाओ ॥ २२ ॥

विदूषक—यह तो स्वप्नस्थ मोदकों से ( इसे खाने के लिए ) गाँव भर  
को बुलाया दे रहे हो । तो आओ, इन दोनों कण्ठकर देवी को प्रसन्न करें । न  
नौ नगद न वेह थयार ।



राजा—यदभिरुचितं भवते ।

विदूषकः—पणअपणमंतसामंतसहस्रअं अत्थाणमंडवमग्गम् उज्झीअ इमिणा खिडक्खिआ दुबारेण पमोअउज्जाणं पविसिअ गच्छह्वा ।  
[ तथा कुरुतः ] ( प्रणयप्रणमत्सामन्तसहस्रकमात्यानमण्डपमार्गमुज्जित्वा अनेन गवाक्षद्वारेण प्रमोदोद्यानं प्रविश्य गच्छावः । )

(नेपथ्ये) सुखाय वसन्तावतारो भवतु देवस्य । संप्रति हि—

गर्भग्रन्थिषु वीरुधां मुमनसो मध्येऽङ्कुरं पल्लवा

वाञ्छामात्रपरिग्रहः पिकवधूकण्ठोदरे पञ्चमः ।

तस्मान् ग्रीणि जगन्ति जिष्णु दिवसैर्द्वित्रैर्मनोजन्मनो

देवस्यापि चिरोज्जितं यदि भवेद्भ्यासवदयं घनुः ॥ २३ ॥

सपदि सखीभिर्निभृतं विरहवतीह्वातुमत्र भज्यन्ते ।

सहकारमञ्जरीणां शिखोद्गतप्रन्थयः प्रथमे ॥ २४ ॥

राजा—अये ! सुरभेरम्मः । सैवेयं मन्मथसैन्यसामग्री ।

राजा—जी आपको पसन्द हो ।

विदूषक—बिनय एवं श्रद्धा से प्रणाम करते हुए सहस्रों सामन्त हैं, अतः दरवारवाले मार्ग को छोड़कर इस गवाक्ष-द्वार से प्रमोदोद्यान में प्रवेशकर हमदोनों चले ।

( नेपथ्य में ) देव को वसन्त का आगमन सुखकर हो । इस समय—

लताओं का गर्भग्रन्थियों में पुष्पों के मध्य में अंकुर और पल्लव एवं क्रीकिल्लववू के कण्ठ के अन्दर पंचम स्वर लगभग उत्पन्न ही गया है, केवल इच्छामात्र चाहिए । मनोब देव का चिरकाल से परित्यक्त तानों जगत् को जीतने वाला घनुष भी कदाचित् दो-तीन दिन में अभ्यास-वश्य हो जाय— अभ्यास से काम देने लगे ॥ २३ ॥

सखियाँ तत्काल गुत-रीति से विरहिणियों को रक्षा करने के लिए आन्न-मञ्जरियों के अग्र-भाग में निकली ग्रन्थियों को सर्वप्रथम उपयोग में लाती हैं ॥ २४ ॥

राजा—अये ! सुरभि का आरम्म ! वहाँ कामदेव को सैन्य-सामग्री है ।

विदूषकः—बंदिषअणमुव्वमाणसिमुभायो उअवणदीसंतल्लोअवि-  
त्थारो सुरहि समयारंभो । ता किं ण वण्णिज्जइ । ( बन्दिषवनधूपमाणसिमु-  
भावः उपवनदरयमानस्तोकोविस्तारः सुरगिसमपारम्भः । तस्माद् किं न वण्यते । )

राजा—ततश्चात्र

साम्भं सम्प्रति सेयते विचकिलं पाणमासिकैर्मौक्तिकै-  
र्वाह्मीकोरदनच्छदारुणतरैः पत्रैरशोकैश्चचितः ।  
भृङ्गीलंपितकोटिकिशुकमिदं किंचिद्धि घृन्तायते  
मासिष्टैर्मुकुलैश्च पाटलितरोरन्वेव काचिल्लिपिः ॥ २५ ॥  
( विचिन्त्य )

सा कापिरवप्रविधौ दृष्टा च मधुश्च यन् समायातः ।  
तदिदं मम लीडमधोरनुपानं तप्तदुग्धेन ॥ २६ ॥

विदूषकः—(परिक्रामितकेन) कलमकूरवृक्षरपंडरेसु सिंदुवारमंजरीपुंजेसु

विदूषक—बन्दी जनों के बचनों से जिसका सिगु-भाव तुना जा रहा है,  
उपवन में जिसका थोड़ा सा विस्तार दिखाई पड़ रहा है, ( उन्नी ) वसन्त के  
समय का आरम्भ है । तो क्यों न वर्णन किया जाय ।

राजा—तो इसके बाद यहाँ—

इस समय विचकिल ( एक प्रकार की मल्लिका या चमेलों ) पुष्प पके  
मोतियों से समता कर रहा है । बाह्लोकी ( बाहलीक [ बल्लु देश की ] लों )  
के ओष्ठों की भाँति अत्यन्त अदृग पत्तों से अशोक वृक्ष नम्र हो गया है । यह  
पत्तों पुष्प, जिनकी सर्वोत्कृष्टता भृङ्गी द्वारा ( उसके पास न आकर ) तिरस्कृत  
की गई, कुछ-कुछ घृन्तायमान ( वृन्तों से युक्त ) हो रहा है मंत्रांड की तरह  
लाल कन्ठियों से पाटलिटुम ( पाटल या पाटला ) की एक अपूर्व शोभा है ॥ २५ ॥  
( सोचकर )

( उधर ) लप्र में मैंने उम सुन्दरी को देखा और ( इधर ) वसन्त जो  
आ गया, यह मधु पीने के बाद गर्म दूध का पीना हो गया ॥ २६ ॥

विदूषक—( घूमकर )

कल्म ( धान्य विरोध ) के भात के ढेर सा श्वेत सिन्दुवार ( सेंभाद या

तत्कालकल्पितविभ्रमंजिह्वेसुं असौअथवपसुं, निजिद-मंजिह्वमसूरमणहरेसुं,  
माहवीकुसुमेसुं, दधिसरिच्छेसुं णोमालिआमुअलेसुं, दरावत्तिदुद्ध-  
मुद्रेसुं विचइल उपकुलपुप्फेसुं, णीसेसपसवसंपदं वज्जीअ उवमाणेसुं-  
सज्जदि मे दिट्ठी । ( कलमकूरोत्करपाण्डरेणु सिन्दुवारमञ्जरीपुञ्जेणु । तत्काल-  
कल्पितवृत्तमञ्जिष्टेषु अशोकस्तवकेषु, निर्जितमञ्जिष्टमसूरमनोहरेषु माघवीकुसुमेषु,  
दधिसदृशेषु नवमल्लिकामुकुलेषु, दरावर्तितदुग्धमुग्धेषु विचकिलोत्कुलपुष्पेषु,  
निःशेषप्रसवसंपदं वर्जयित्वा उपमानेषु सज्जति मे दृष्टिः ।

राजा—अत्र हि किलोचितोपमानाभिनिवेशिनी ते जिह्वा ।

विदूषकः—( अग्रतो निर्दिश्य ) रंगगणं लदा-गणकोणं, वाहिआलीमल-  
आणिलतुरंगस्स, वारिस्थानं वंमहमहवारणस्स, संकेदसदणं णीसेस-  
कुसुमाणं, पीऊसवरिसं हिअअस्स पमदुज्जाणं । ता इमं निव्वण-  
अंतो इदो एदु पिअवअस्सो । ( रंगगणं लतानर्तकीनां, वाहिरालीमलयानिल-  
तुरङ्गस्य, वारिस्थानं मन्मथमहावारणस्य, संकेतसदनं निश्शेषकुसुमानां,  
पीयूषवर्षं हृदयस्य प्रमोदोद्यानम् । तस्मादिदं निर्वर्णयन्नित एतु प्रियवयस्यः । )

निर्गुण्डी ) के मंजरी-पुंजो, तत्काल तैयार किये गए घृत सा ईषद्रक्त अशोक के  
गुच्छों, लाल रंग को मात करने वाले मसूर से मनोहर वासन्ती के पुष्पों, दधि  
सी श्वेत नवमल्लिका की कलियों, ( श्वेतता में ) शंख और दूध को भ्रमित  
और मुग्ध बना देने वाले विचकिल ( एक प्रकार की मल्लिका ) के खिले हुए  
पुष्पों के विषय में सम्पूर्ण कुसुमसौन्दर्य एवं समृद्धि को त्याग कर केवल उपमानों  
पर मेरी दृष्टि जाती है ।

राजा—तुम्हारी जिह्वा सचमुच उचित उपमानों में अभिनिवेश करती है—  
उचित उपमान कहती है ।

विदूषक—लता-रूपिणी नर्तकियों की रंगभूमि, मलयानिलरूपा तुरङ्ग की  
वाहिराली ( दौड़ने का मैदान ), मन्मथरूपा मतवाले हाथी का ( जल-क्रीडार्थ )  
जल-कुण्ड, सभी कुसुमों का संकेत स्थान ( परस्पर मिलने का स्थान ), हृदय  
को आनन्द देने वाला ( यह ) प्रमोदोद्यान है । अतः इसे भलीभाँति देखते हुए  
प्रिय सखा इधर आये ।

राजा—( पवनस्पर्शमभिनीय )

ये दोलाकेलिकारा मनसि मृगदृशां मान तन्तुच्छिदो ये  
सद्यः शृङ्गारदीक्षाव्यतिकरगुरवो ये च लोकत्रयेऽपि ।  
ते कण्ठे लोलयन्तः परभृतययसां पञ्चमं रागराजम्  
वान्ति स्वैरं समीराः स्मरविजयमहासाक्षिणो दाक्षिणात्याः ॥२७॥

अपि च—

सुरतभरखिलपन्नगविलासिनीपानकेलिजर्जरितः ।  
पुनरपि विरहिश्चासैर्मलयमरुन्मांसलो भवति ॥ २८ ॥

विदूषकः—एव्यं एदं

लंकातोरणमालिआतरलिणो माणोसहं सिघली  
संघाणं दविडीण वम्महमहालासैकणट्टावओ ।  
कण्णाडीकुरलालितंढवअरो लाटीण लीलागुरू  
उम्मत्तो महरट्टिवडडिदमणो चेत्ताणिलो वडडदि ॥ २९ ॥

राजा—( पवन-स्पर्श का अभिनय कर )

दोला-केलि (शूला-शूलने की मीठी) का सम्पादन करने वाला, मृगानयनियों के मनोगत मान-तन्तु को तोड़ने वाला, तीनों लोक में प्रेम-दीक्षा के व्यक्तिकरों (अडचनों) का (निवारक) गुरु, पिकों के कण्ठ में रागराज पंचम को गति प्रदान करने वाला एवं कामदेव की विजय का महासाक्षी दाक्षिणाति स्वच्छन्द बह रहा है ॥ २७ ॥

और भी

संभोगातिरेक के कारण भान्त रनिणी के द्वारा ( भान्ति-निवारणार्थ देर तक ) पान किये जाने से धीण हुआ मलयानिल विरहीजनों के ( दीर्घ ) सोंतों से पुनः दृष्ट-पुष्ट हो रहा है ॥ २८ ॥

विदूषक—लंका के बहिर्द्वार पर स्थित मालाओं को हिलाने वाला, सिहली कामिनियों का मानोपघ (मानमङ्गल करने के लिए औपघ-स्वरूप), द्रविदी युवतियों के कामकृत्य का नर्त्तापक (संचालक एवं प्रेरक) कर्णाटी

( लकातोरणमालिकातरलिनो मानौपधं सिंहली-  
संधानां द्रविडीनां मन्मथमहालात्यैकनर्त्तापकः ।  
कर्णाटीकुरलालिताण्डवकरो लायीनां लीलागुरु  
रन्मत्ती महाराष्ट्रीवर्धितमनाश्चैत्रानिलो वर्धते ॥ २९ ॥ )

( संस्कृतमाश्रित्य )

इह हि नववसन्ते मञ्जरीपुञ्जरेणु-  
च्छुरणधवलदेहावद्वहेलं चरन्ति ।  
तरलमलिसमूहा हारिहंकारिकण्ठा  
बहुलपरिमलाली सुन्दरं सिन्दुघारम् ॥ ३० ॥

राजा—( किञ्चिद्विहस्य ) सखे ! संस्कृतेऽपि प्रगल्भसे ।

विदूषकः—तुमं वि अक्षारिसजगजोग्गे पाउदमग्गे णिपद्धिदोसि । ता  
एहि फलिहसिलामंदिरं महामंतिकारिंद केलिकेलासं पेक्खितुं गच्छह्व ।  
( इति परिक्रामतः ) ( त्वमपि अस्मादृशजनयोग्ये प्राकृतमार्गे निरतितोऽसि ।  
तस्मादेहि स्फटिकशिलामंदिरं महामंत्रिचारितं केलिकेलासं प्रेषितुं गच्छावः ।  
कहिं उण कौची-केंकारसुन्दरो सदो क पुनः कौञ्ची- केङ्कारसुन्दरः  
शब्दः । )

कुरलियों को ताण्डव सिखाने वाला, लायी ललनाओं का लीलागुरु एवं महाराष्ट्री  
महिलाओं के मन को बड़ाने वाला उन्मत्त चैत्रानिल बंद रहा है ॥ २९ ॥

इस नव वसन्त में मंजरियों के पराग के लेप से धवलदेह, मोहक और  
हुंकारयुक्त कण्ठ वाले अलि-समूह सुन्दर एवं अत्यन्त सुगन्धमय सिन्दुवार की  
ओर जा रहे हैं ॥ ३० ॥

राजा—( झुल हँसकर ) सखे ! तुम संस्कृत में भी निपुण हो ।

विदूषक—तुम भी तो हम ऐसे लोगों के योग्य प्राकृत भाषा के मार्ग पर  
निरतित हो । तो आओ महामन्त्री के बनवाये स्फटिक-शिलामन्दिर—केलि-  
कैलास को देखने चलें । यह कौञ्ची-केङ्कार सुन्दर शब्द कहीं ।

राजा—(समाकर्णयित्वा दनुजारेणोर्ध्वनवलोकात्)

उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्क्य मना-  
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतहरिणः।

समावृद्ध-भार्तरुपवन-चक्रोरैरनुसृतः

किरञ्ज्योत्सनामच्छां नयलवलिपाकप्रशयिनोम् ॥ ३१ ॥

विदूषकः—कहिं सो (कः कः)

राजा—अयमयम् (सविस्मयनवलोकात्) कथं न दृश्यते, किं पुनरिदम्।

(वितर्क्य)

यन्मञ्जुशिञ्जितनितो रक्षाना-भणोनां

यच्छाससौरभ-यटादलयो चलन्ते।

यद्भोतयश्चलदलद्वयश्च लीला-

दोलाविलासतरलस्तदयं सुखेन्दुः ॥ ३२ ॥

राजा—(मुनता हुआ और उसके अनुसार ऊपर की ओर देखकर)

(विदूषक को सम्बोधित कर) तनिक चहारदाकारी के ऊपर दृष्टि डालो। तनिक सोचो यह कौन सा (अपूर्व) चन्द्रमा है, जिसकी स्थिति आकाश में नहीं है और न जिसके अङ्ग में मृग हो है, (अन्धिका का पान करने के लिए) प्राप्त रोक कर उपवन के चक्रोर जिसकी ओर आहूट है, जो स्वच्छ निर्मल ज्योत्स्ना छिद्रका रहा है ॥ ३१ ॥

विदूषक—यह क्यों है?

राजा—यह, यह देखो। (विलम्बपूर्वक देखकर) अब क्यों नहीं दिखाई देता है, तो फिर यह क्या है? (सोचकर)

इस करधनी की मणियों की जो मधुर झनकार हो रही है, आस की सुगन्ध के दल से भरी जो आहूट होते जा रहे हैं, जो ये मीठ (मुनारें पड़ रहे हैं), अलङ्कार जो हिल-डुल रहे हैं, तो अवश्यमेव यह (जिसी सुन्दरी का) सुल-चन्द्र है जो हृदय के आगे-पिछे आने-जाने से तरल (कभी निकल, कभी दूर) दिखाई देता है ॥ ३२ ॥

विदूषकः—किष्णु वस्तु एतं । सचकं तुए जाणिदं जदो हिंदोलिआ-  
जुअलसिहराइं इदो दोसंति । ( किन्नु खल्वेतत् ? सत्यं त्वया शतं यतो  
हिन्दोलिकायुगलशिशुरे इतो दृश्येते । )

राजा—( पुनर्दृष्ट्वा ) सखे ! अयमसाधाश्चर्यश्चन्द्रमाः ।

विदूषकः—णिरणुक्कोसोक्कण्ठलोअणेहिं अह्णेहिं चन्दो खे लक्खी-  
अदि । ( निरनुक्कोशोत्कण्ठलोचनैरस्माभिश्चन्द्रः खे लक्ष्यते । )

राजा—( निपुणं निरूप्य ) सखे ! दिष्ट्या वर्धसे, स्वप्नदृष्टजनमुखपद्म-  
संवादिनी लावण्यलक्ष्मीः ।

विदूषकः—आः कीदिसी सा ( आः कीदृशी सा )

राजा—यादृशी परिपाकपाण्डुराणां शरकाण्डानाम् ।

विदूषकः—ननु कारिकलभदन्तच्छेदेसु वि सा अत्थि ज्जेव । [ विचिन्त्य ]  
चिरविरहिअहिन्दोलिआसदत्तणेण जाणिज्जाद अवतिण्णा सा हिन्दो-  
लिआए । ता एहि अगतो गच्छह्य । [ इति परिक्रामतः ] ( ननु करिकलम-  
दन्तच्छेदेष्वपि साऽस्त्येव । चिरविरहितहिन्दोलिकाशब्दत्वेन ज्ञायतेऽवतीर्णा  
सा हिन्दोलिकातः । तस्मादेहि अग्रतो गच्छायः । )

विदूषक—यह क्यों कर सम्भव है ? तुमने ठीक-ठीक जान लिया क्योंकि  
हिंडोले के दोनों सिरों यहाँ से दिखाई पड़ रहे हैं ।

राजा—( पुनः देखकर ) सखे ! यह चन्द्रमा तो आश्चर्यजनक है ।

विदूषक—भली भौति खूब अक्काउर उत्कण्ठ-लोचनों से हम चन्द्रमा को  
आकाश में देखें ।

राजा—( सम्यक् निरूपण कर ) सखे ! भाग्य से तुम बढ़ रहे हो ( तुम्हारी  
प्रसन्नता का विषय है । ) यह सौन्दर्यलक्ष्य स्वप्न में देखी हुई सुन्दरी के मुख  
कमल की शोभा से विशकुल मिलती-जुलती दिखाई पड़ती है ।

विदूषक—अरे वह कैसी है ?

राजा—पके हुए सरकण्डों के समान गौर वर्ण ।

विदूषक—युवक-दायाँ के दाँतों में भी वह ( गोराई ) होती है । हिंडोले का  
शब्द अब बन्द हो गया, जान पड़ता है कि वह हिंडोले से उतर गई । तो आओ  
आगे चलें ।

एदं तं केलि-कैलासं । ता उचसप्पट्टु पिअवअत्सो । [ तथा कुरुतः ]  
( एतत् केलिकैलासम्, तस्मादुपसर्पत प्रियवयस्यः । )

राजा—उद्दण्डहिण्डीरपिण्डपरिपाण्डुरेण महसाऽतिकैलासमेवेदम् ।

विद्वपकः—पिअ वअत्स इदो दाव आलिखिदफलिहगव्भभवणभित्ति-  
चित्तकम्मम्मि णिवेसीअट्टु दिट्ठी । एस दाव देवो देवीए समं वासगाहि-  
णीवेसी आलिहिदो । एसा वि तंदुलकरंढवाहिणी णाअवल्ली । एसा वि  
चामरग्गाहिणी पभंज्जणिआ । एसो वि जलकमंडलुओ णाम वामणओ ।  
एसो वि मंदुरामककटो टप्परकण्णो णाम । ( प्रियवयस्येतत्तावद् आलिखि-  
तत्फटिकगर्मभवनभित्तिचित्रकर्मणि निवेदयतां दृष्टिः । एष तावद्देवो देव्या समं  
वासकामिनिवेशी आलिखितः । एषापि ताम्बूलकरण्डवाहिनी नागवल्ली, एषापि  
चामरग्राहिणी प्रभञ्जनिका, एषोऽपि जलकमण्डलुको नाम वामनः, एषोऽपि  
मन्दुरामकट्यष्टपरकर्णो नाम । )

राजा—सखे ! त्वमेपोऽभिलिखितः ।

विद्वपकः—( सक्रोधम् ) णाहं जाणिदो आलिहिदुं । वम्हणी जाणादि  
जादिसोहं, सा मां भणादि तुमं पच्चअखो कामदेवो त्ति । ( नाहं शतुं  
आलिखितुं, ब्राह्मणी जानाति यादशोऽहम् । सा मां भणति त्वं प्रत्यक्षः काम-  
देव इति । )

यह केतिकैलास है, तो प्रिय सखा धीरे-धीरे चले । ( बैसा करते हैं )

राजा—धनीभूत समुद्र फेन से अत्यन्त उज्ज्वल आभा से यह वास्तविक  
कैलास को मात कर रहा है ।

विद्वपक—प्रिय वयस्य ! इधर स्फटिक से बनी हुई अन्तरह्रद की दीवारों पर  
बनाये गये चित्रों पर तो दृष्टि डालो । यह आप हैं—आपका चित्र है, जिसमें  
आप देवी के साथ शयन-ग्रह में अभिनिविष्ट दिखाये गए हैं । यह पानदान  
लिए रहनेवाली नागवल्ली है, यह चैंबर हुलाने वाली प्रभञ्जनिका है । यह जल-  
कमण्डलुक वामन है । यह मन्दुरामकट टप्परकर्ण है ।

राजा—सखे ! तूम यह चित्रित हो ।

विद्वपक—( सक्रोध ) यह मेरा चित्र नहीं शत होता । ब्राह्मणी ( मेरी स्त्री )  
जानती है—जैसा मैं हूँ । यह मुझसे कहती है कि तूम साक्षात् कामदेव हो ।



राजा—अए किमुपवने शुको वदति ।

विदूषकः—किं विअ ? ( किमिव ? )

राजा—अस्ति भवान् देवः, किं पुनर्भृङ्गरितिः ।

विदूषकः—को दुडजणयअणाणं कण्ठं देइ । ( अहल्या निर्दिशन् ) एसा उण सोहासमुदयेग उवहसन्ती देवीं अपुव्वा कापि आलिहिदा । ( को दुर्जन-वचनानां कण्ठं ददाति । एसा पुनः शोभासमुदयेनोपहसन्ती देवीमपूर्वां कापि आलिखिता । )

राजा—इयमपूर्वं किं पुनरस्माकं न पुनरनङ्गस्य । ( सम्यग् विलोक्य )  
संवेयमस्मन्मनःसारङ्गशशिलेखा । अहो रूपसंपदेतस्याः—

चक्षुर्मेचकमन्वुजं विजयते वक्तृस्य मित्रं शशी

भ्रूसूत्रस्य सनाभिमन्मथघनुर्लावण्यपग्यं वपुः ।

रेखा कापि रदच्छदे च सुतनोर्गात्रे च तत् कामिनी-

मेनां, वर्णयिता स्मरो यदि भवेद्वैग्यमभ्यस्यति ॥ ३३ ॥

राजा—अरे क्या उपवन में तोता बोलता है ? ( अर्थात् तुम असत्य और निरर्थक बकते हो ) ।

विदूषक—क्यों ?

राजा—आप हैं तो भृङ्गरिति क्या है ?

विदूषक—कौन दुष्टों की बातों पर ध्यान दे ? यह कोई अपूर्व सुन्दरी चित्रित है, जो शोभाधिक्य से देवी को भी लजित कर रही है ।

राजा—यह अपूर्व ही है, न इससे हमारा, न कामदेव का कुछ लाभ । ( मली मूर्ति देखकर ) यह तो वही है ( उसी का चित्र है ) जो हमारे मन रूरी मृग की चन्द्र-रेखा है । अहो ! कैसा उत्कृष्ट रूप है । इसके श्यामनेत्र नील कमल को पराजित कर रहे हैं, चन्द्रमा इसके मुख का और कामदेव का घनुष मौशों का मित्र है । शरीर रूप का बाजार ( आगार ) है । सुन्दरी के ओठ पर अपूर्व ( मुस्कान ) की रेखा है । कामदेव यदि नैपुण्य का कुछ दिन अभ्यास करे तो कदाचित् इस सुन्दरी का वर्णन करने में समर्थ हो सके ॥ ३३ ॥

विद्वपकः—( स्वगतम् ) का उण एसा देवी-परिवारे । ( विचिन्त )  
 भोदु, कोदूहलेग देवी ओल्लागतं णिअमादुलभावुअं निअंकरन्मानं  
 वारंवारण चिरइदमहिलावेशं कारेदि । तं च मुणिअ अण्णाअपरमत्थेहिं  
 चित्त-करेहिं तथा ज्जेव चित्ते आलिहिदि त्ति उक्केमि । ता ण विळं  
 फालइस्सं । भमदु दाव पिअवअस्सो । ( का पुनेरपा देवी-परिवारे । भवदु,  
 कौरूहेत्त देवी ओल्लागतं निअमादुलभाकुं मृगाङ्कवमाणं वारंवारं चिरचित्त-  
 महिलावेशं कारयति । ताञ्च ज्ञात्वाऽऽतपरमार्येदिचप्रकरेस्तर्धव चित्रे आदिदि-  
 तेति उक्कयामि । तस्मात्त विळं स्तोयिष्यामि । अन्तु तावत् प्रियवदस्यः । )

राजा—यथाह प्रियवदस्यः—

कन्येति सूचयति वेष-विशेष एव  
 यन्नीलचोलकवती लिखिताऽत्र चित्रे ।

पाणिग्रहान् प्रभृति तु प्रमदाजनस्य

नीचीनिवेशमुभगः परिधानमार्गः ॥ ३४ ॥

( विमृश्य )

अहो वपुःश्रीर्लिखितुर्जनस्य स्वाकारसंवादि यदत्र चित्रम् ।

इदं च पौरन्ध्रमर्चामि कर्म रेखानिवेशोऽत्र यदेकवारः ॥ ३५ ॥

विद्वपक—( अपने मन में ) देवी के परिवार में यह कौन हो सकती है ?  
 अच्छा, देवी ओल्लागत अपने मामा के लड़के मृगाङ्कवर्मा को बार बार कों का  
 वेष धारण कराती रहती हैं । उसी को स्त्री समझ कर, सच बात को बिना जाने  
 चित्रकारों ने ठसका उसी रूप में चित्रण कर दिया—मेरी समझ में ऐसा आता  
 है । वो मैं रहस्योद्घाटन नहीं करूँगा । प्रिय सखा इत्नी प्रकार भ्रम में पड़ा  
 रहे । ( लख पड़ता है ) वेष-भूदा से यह कन्या नादम पड़ती है ।

राजा—जैसा प्रिय सखा कह रहे हैं ( वही है ) इसका विशेष वेष ही राजा  
 रहा है कि यह कन्या है क्योंकि चित्र में नीले बर्ण की चोली पहिने हुए चित्रित की  
 गई है । पाणि-ग्रहण के बाद से तो स्त्रियों के पहिने का टंग नीची की सजावट से  
 सुन्दर हो जाता है—वे नीची के बन्धन पर विशेष ध्यान रखने लगती हैं ॥३५॥

( सोचकर )

अहो ! कैसा शरीर-सौन्दर्य है ! यह चित्र तो ऐसा बन पड़ा है कि नादम  
 होता है कि चित्रकार ने अपना ही रूप चित्रित कर दिया है । मैं समझता हूँ—

## प्रथमोऽङ्कः

( सम्यग् विभाव्य ) तदियं मकरध्वजवैजयन्ती काऽपि स्वयमेव स्वं लिखितवतीति निर्णयते ।

विदूषकः—सच्चं एदं, जदो गरिट्ठजणगोट्ठीसु इत्थं करिआ सुणीअदि । जादिसो चित्तअरो तादिसी चित्तअम्मरुअसोहा, जादिसो कई तादिसो कववन्धछाअ सि । ( सत्यमेवत्, यतो गरिष्ठजनगोष्ठीष्वित्थं कारिका श्रूयते । यादृशश्चित्रकरस्तादृशी चित्रकर्मरूपशोभा, यादृशः कविस्तादृशी काव्य-बन्धच्छायेति । )

राजा—युज्यते, आकृतिमनुगृह्णन्ति गुणाः । अपि च सखे ! चारायण !

क्रमपरिणतरेखाभांसलैरङ्गभागै-

लघुरपि लिखितेयं लक्ष्यते पूर्णमूर्तिः ।

अयमपि सुकुमारः सात्त्विकानां निवेश-

श्चतुरमसृणमुग्धं भावमाविष्करोति ॥ ३६ ॥

यह काम किसी मुग्धिणी का है । उसका इतना अधिक अभ्यास है कि रेखाओं को केवल एक बार ही खींच देने से काम पूरा हो गया—द्वारा उसे ठीक करने के लिए रेखायें नहीं खींचनी पड़ीं ॥ ३५ ॥

( भलीभाँति सोचकर ) तो यह कोई कामदेव की पताका अर्थात् परम सुन्दरी है, जिसने स्वयं ही अपने को चित्रित किया है—इसी निर्णय पर पहुँचता हूँ ।

विदूषक—यह बात बिलकुल सच है । विद्वानों की गोष्ठियों में ऐसा सुना जाता है कि जो जैसा चित्रकार वैसा ही उसका चित्र, जैसा कवि वैसा ही उसका काव्य ।

राजा—ठीक है, गुण निस्सन्देह आकृति के अनुरूप होते हैं । और सखे चारायण ! सभी अंग क्रम से परिणत रेखाओं से भांसल हैं, जिसे लघुरूप में चित्रित भी पूर्ण मूर्ति दिखाई पड़ती है । सात्त्विक भावों के सुन्दर संनिवेश से मनोज एवं त्लिग्ध मुग्धभाव ( सीधापन ) स्पष्ट प्रकट हो रहा है ॥ ३६ ॥

विद्वपकः—इदो देवी मञ्जनवद्विअरे घरे सपरिवारा आलिहिदा ।  
( इतो देवी मञ्जनव्यतिकरे गृहे सपरिवारालिखिता । )

राजा—इदमेव रूपरत्नं सम्भाषयावस्तावत् ।

विद्वपकः—इहाधि सा अत्थि ज्जंण्व । ( इहाऽपि ताऽस्त्येव । )

राजा—( आत्मगतम् ) एकं चक्षुरनेकत्र सा । ( विद्वपकं प्रति )  
कवासौ ?

विद्वपकः—इअमिअं ( इयमियम् )

राजा—( विलोक्य तोलकण्ठम् )

येनोत्पलानि चं शशी च मृणालिकाश्च  
रम्भादलञ्च कमलानि च निर्मितानि ।

नूनं स एव मृगशावहृशोऽपि वेधाः

संघनूक्रमो यद्यमेकतया चकास्ति ॥ ३७ ॥

विद्वपकः—( स्तम्भे शालभङ्गिकां विलोक्य ) इअं पि सच्चं ज्जेव ।  
( इचमपि सत्यैव । )

विद्वपकः—इधर देखिये, खानागार में देवी परिव्रजन—समेत चित्रित की गई हैं ।

राजा—हम दोनों पहले इसी रूप-रत्न ( जिसका निर्देश पहले किया जा चुका है, जो देवी के सौन्दर्य को भी मात कर रहा है ) पर विचार करें ।

विद्वपकः—यहाँ भी वह है ।

राजा—( अपने मन में ) मेरी अकेले दृष्टि, और वह अनेक जगह है ।  
( विद्वपक से ) कहाँ है वह ?

विद्वपकः—यह, यह ।

राजा—देखकर उत्कण्ठापूर्वक ।

जिस विधाता ने नीलोत्पल, चन्द्रमा, मृणालिका, कदलो-पत्र और कमलों को रचा है, उसी ने इस मृगनयनी का भी निर्माण किया है सभी तो उस विधाता का उक्त सभी वस्तुओं के रचने का साथ अनुभव इकट्ठे ही यहाँ इस रमणी में शक रह है ॥ ३७ ॥

विद्वपकः—( खम्भे पर मूर्ति देखकर ) यह भी ठाँक ठाँक घरी है

रजा—इयमपि साऽप्रमद्विलोचनचकोरचन्द्रिका । (विलोक्य सोत्कण्ठम्)

सा दुग्धमुग्धमधुरच्छविरङ्गयष्टि-  
स्ते लोचने तरुणकैतकपत्रदीर्घे ।

कम्बोर्विडम्बनकरश्च स एव कण्ठः  
सैवेयमिन्दुवदना मदनायुधं वा ॥ ३८ ॥

( सवितर्कम् )

न स्वप्नानुभवस्य कश्चिदपरः सत्रह्यचारी मम  
स्यात्संकल्पकृतश्चकास्ति मनसः कस्यैव रेखाक्रमः ।  
तन्मन्ये क्व चिदस्त्यसौ कुवलयच्छायामुपा चक्षुषा  
यत्सादृश्यपरिग्रहादिह दृशौ दीर्घे समावासिते ॥ ३९ ॥

( विभाव्य ) भवतु, पुनर्योग्यस्थानविन्यासमासादयतु स्वप्नहारः,  
संचरतु शालभञ्जिकारूपाया अप्येतस्याः कण्ठमूलम्, अलंकरोतु  
वालविचकिलवल्लीं फोरकनिकुरम्य इति । ( तथा करोतु )

रजा—यह भी वही, हमारे नेत्ररूपी चकोरों की चन्द्रिका है । ( देखकर  
उत्कण्ठापूर्वक ) ।

दूध से भी बड़कर स्निग्ध शोभा वाला वही छरहरा अङ्ग है, नवीन केतकी-  
पत्र की भाँति दीर्घ वही नेत्र हैं, शंख को लज्जित करने वाला वही कण्ठ है,  
यह वही चन्द्रमुखा वा मदनाल है ( जिसे देखने से कामपीडा होती है ) ॥३८॥

( सवितर्क )

स्वप्न में मैंने जो अनुभव किया है, उसके समान और कोई अनुभव नहीं  
हो सकता है । जिसके मन के संकल्पों से बनाया हुआ यह रेखाओं का क्रम  
शोभित हो सकता है । कुवलयों की कान्ति को चुपाने वाले नेत्रों के द्वारा जिसके  
सादृश्य का ग्रहण करके ये आँखें दीर्घ एवं उसके सदृश हो गई हैं, मैं तो  
मानता हूँ कि वह है कहीं पर अवश्य ।

( सोच-समझकर ) अच्छा तो यह स्वप्नहार योग्य स्थान पर रख दिया  
जाय । मूर्तिरूपा इस ( मुन्दरी ) के कण्ठमूल को, विचकिल नवलता को क्लो-  
वृन्द की भाँति, अलंकृत करें ।

विद्वपकः—इदो वि चित्तगदा स ज्ञेव । ( तोल्यत्तन् ) निअंकत्तवि-  
विषमालाहिं विष्णुलक्ष्मि । अघं लग पत्तचक्खो पुण्णिमा चन्दो ।  
( इतोप्रि चित्तगता सैव । मो मृगाङ्कप्रतिदिम्बनालाभिर्विन्दल्लपोऽस्मि । अयं  
पुनः प्रलभः पूर्णिमाचन्द्रः । )

राजा—क्य पुनरसावत्तन्नयनानृतपतिः ।

विद्वपकः—इयमियम् । या हरिणंक्खण्डपंढरोहिं तिरिच्छेहि  
दिट्ठिच्छडाक्खेहिं विष्णुरेदि विन्दुहाइं, पागिसंचलणेय विच्छुरेदि  
कंकेलिपल्लवाइं, चरणचालणेय विरएदि पंक्केरहसंकासनाउलाइं  
भमरजालाइं । ( इयमियम् । या हरिणाङ्कखःडपाण्डरैस्तिपग्निहोष्टिच्छय-  
धैर्विन्दुरमति दिट्ठुजानि, पागितंचलनेय विच्छुरपति इट्ठुलिपल्लवानि,  
चरणचालनेय विरचति इट्ठुहयहासमाकृजानि भ्रमर-जालानि । )

राजा—भवदाशंसिता सत्यस्वप्नतेव संज्ञता । ( विहीरुप ) संवेयं  
सञ्जीवनीपथिभंकरध्वजस्य विशल्यकरणीपथिर्मे हृदयोद्भेदस्य ।

( विभाव्य )

मात्रानर्तितमण्डनश्रु वदनं किंचित्प्रगल्भे दृशो  
त्वोक्थोद्भेदनिवेशितस्ननुगो मध्वं दरिद्राति च ।

विद्वपकः—इपर भी वही चिहित है । अरे चन्द्रमण्डल द्वारा मैं घोसे में  
पड़ गया, वास्तव में यह प्रलभ पूर्णिमा का चन्द्र है ।

राजा—वहाँ है वह हमारे नेत्रों की अनृतपतिका ।

विद्वपकः—यह, यह । वो चन्द्रखण्ड की मूर्ति स्वैत एवं निर्मल तिरछे नेत्र  
के कयधों से दिशाओं को चमकृत कर रही है, पागि-संचलन से अघोक् के  
पक्षों को विच्छुरित कर रही है तथा जिसके चरण-संचालन से मौरों को कन्द  
की शदा ही रहा है ।

राजा—आप ने बैसा पहले कहा था, वास्तव में तम क्ल हो गया ।  
( देतकर ) यह वही कामदेव की संजीवनीपथि है, मेरे हृदय के धाव को  
विशल्य ( कष्टरहित ) करने वाली ओपथि है ।

( सीचकर )

उसके नेत्र कुछ भूट हैं एवं कयस्थल में तनी का थोड़ा थोड़ा ठमार हुआ  
है । उसका कर्माग धीन है, नितम्बस्थल स्थूल है । उस मृग मयनी के हुन्दर

अत्या यज्जघनं घनं च कलया प्रत्यङ्गमेणीदृशः  
सत्यंकार इव स्मरैकसुहृदा तद् यौवनेनार्पितः ॥४०॥

विदूषकः—उल्लसिद्भूलदेण उदंगुलिकरकमलेण च अमुणा संटा-  
णेण किं पि कुणंती एसा चिट्ठदि । ( उल्लसितभ्रूलतेन उदङ्गुलिकरकमलेन  
चामुना संत्यानेन किमपि कुर्वत्येषा तिष्ठति । )

राजा—यद् भ्रूलते तरलिते यदुदङ्गुलिकः  
पाणिः पुरो यदपि चक्षुरलग्नलक्ष्यम् ।  
उन्मुद्रिताघरदलं च यदास्यमत्या—  
स्तत्कार्यकर्माणि निपक्तमवैमि चेतः ॥ ४१

विदूषकः—एवं एदं जदो पुरदो इमाए अद्धलिहिदा अकररावली  
चिट्ठदि । ( एवमेतत् यतः पुस्तोऽस्या अर्धलिखिता अक्षरावली तिष्ठति । )

राजा—वाचयति—

विधत्ते सोल्लेखं कतरदिह नाङ्गं तरुणिमा ।

( विदूष्य ) अहो ! गाहन्यम् । अहो ! शिखरिणीपादः । अहो !

शरीर को मानो कामदेव के अनन्यमित्र यौवन ने सत्यद्वार ( काम को पूरा करने के  
लिए जमानत के रूप में पेशगी दी हुई रकम ) के रूप में अर्पित किया ॥४०॥

विदूषक—इसकी मौंहें उल्लसित हैं, गतिशूल कर-कमलों की उँगुलियाँ ऊपर  
उठी है । ऐसी स्थिति में यह कुछ करती हुई मादम होती है ।

राजा—मैं अनजान हूँ कि इसका मन किसी काम के करने में तीन है  
क्योंकि इसकी मौंहें चञ्चल हैं, हाथ की उँगुलियाँ ऊपर की ओर उठी हैं, नेत्र  
किसी लक्ष्य पर लगा नहीं है ( अर्थात् सामने की ओर न देखकर नीचे की  
ओर देख रही है ) अघर-दल खिल हुआ है ॥ ४१ ॥

विदूषक—ऐसा ही है, क्योंकि इसके सामने आधा लिखा वाक्य है ।

राजा—वाचता है—

तादृश्यं किञ्च अङ्गं सुन्दरं नह्यं क्वा देवा है ।

( सोचकर ) अहो ! कैसी गम्भीरता है, कैसा सुन्दर शिखरिणी का चरण

सूक्तियुक्ता वाचः । अहो ! हृद्या वैदर्भी रीतिः । अहो ! माधुर्यं पर्याप्तम् ।  
अहो निष्प्रमादः प्रसादः ।

विदूषकः—ता उचिदकाले अभिसरीश्रुदु सुन्दरी पिञ्जदु पभगंञ-  
लिसंपुडैहिं पुण्णिमाचंदो, पूरिजंतु कण्णकुहराई मुहासिदरसायणेहिं  
णरुचावीअदु रहसुत्थंभिदहत्थो मअणपट्टावओ । ( तत्नादुचिदकालेऽ  
भिक्षिपतां सुन्दरी । पीयतां नमनाञ्जलिस्तम्पुटैः पूर्णिमाचन्द्रः । पूर्वन्तां कर्णकुहराणि  
सुभापितरसायनैः । नर्त्यता रहस्योत्तंभितहस्तो मदननतांपकः । )

राजा—( पदान्तरे स्थित्वा, चतुर्दिग्मन्त्रोक्त्वा ) अहो ! दयिताद्वैतं वर्तते ।  
तथाहि—

सुतनुरियमितस्वतश्च चित्रे गुणगुरुरत्नं च शालमञ्जिक्यम् ।

स्थितनिब सुतनोर्वापुश्चतुर्था स्मरशरतापरुर्जं विभज्य सोढुम् ॥४२॥

तदेहि, समुपवृत्त्य सुभापितेन श्रवणे कृतार्थयावः । न खलु व्यापार-  
मन्तरेण करकलितापि शुक्तिर्विमुञ्चति मौक्तिकानि इति ।

( उभौ परिक्रान्तः )

विदूषकः—( पुरतः सन्न मीत्वा आस्फोटं नादपित्वा ) भो ओसर ओसर,  
भूदंतरं क्त्तु किं पि एदं, ता इमिणा पडिकुविददेवीभूलदाभंगकुटिलेन

हे, कैसा सूक्ति युक्त वाणी है । अहो ! क्विठनी मनोहर वैदर्भी रीति है । अहो !  
पर्याप्त माधुर्य है । अहो ! कैसा निष्प्रमाद प्रसाद गुण है ।

विदूषक—तो उचित अवसर पर सुन्दरी के निकट चलिये । नेत्रों से पूर्णिमा  
चन्द्र का पान कीजिए । कर्णकुहरों को सुभापित रसायनों से पूर्ण कीजिए ।  
रहस्य से उत्तंभितहस्त मदन नतांपक को नचाइये ।

राजा—( एक पद की दूरी पर खड़ा होकर, चारों ओर देखकर ) दो  
शुभल सुन्दरियों उपस्थित हैं । इधर यह सुन्दरी और उधर चित्र में गुणगुरिमा  
पूर्ण यह नृति, मानों कामदेव के दाण-वन्य स्ताप को अलग-अलग बाँट कर  
सदने के लिए इस सुन्दरी का शरीर चार प्रकार में हो गया है ॥ ४२ ॥

तो आओ, निकट चलकर मधुर वचन से कर्णों को कृतार्थ करें । दिना  
उद्योग के हस्तगत सौप मी मोतियों को बाहर नहीं निकालीं ।

( दोनों घूमते हैं )

विदूषक—हये, हये । यह तो कोई भूत है, तो मैं क्रुद्ध हुई देवी की भाँसी



डकट्टेण तडित् ताडयिस्सं ता पेक्ख मे पुरिस आरम् । ( मो अपसरापसर भूतान्तरं खड्ग किमप्येतत् । तस्मादनेन परिकुपितदेवीभ्रलतामङ्गकुटिलेन टण्डका-  
प्टेन तडिति ताडयिष्यामि तत् पश्य मे पुरुषकारम् । )

राजा—तर्हि मालतीमुकुलैर्दुकूलं कल्पयिष्यसि ।

विदूषकः—ता किं णु क्खु एदं ( तस्मात् किन्तु खल्वेतत् )

राजा—सखे ! तर्कयामि स्फटिकभित्तेः परतः स्थितया स्वच्छभावा-  
दितः सुव्यक्तयाऽनया भवितव्यम् । तदेहि, केलिकैलासपश्चिमेनेनां  
सम्भावयामः ( तथा कुरुतः )

विदूषकः—तुरित्तरमवक्कन्ता सा, जदो असमंजसा इदो देवीवास-  
भवणाहिमुही पजपंती दीसइ । ( त्वत्तितरमपक्रान्ता सा, यतोऽसमज्ञता इतो  
देवीवासभवनाभिमुली पदंपक्किट्ठस्यते । )

राजा—हृदय ! स्वस्ति भवते । एनामनुवर्तता स्मर्तव्या वयम् ।

( नेपथ्ये ) जय जय त्रिलिङ्गाधिपते ! सुखाय मध्यन्दिनं भवतु  
भवतः । सम्प्रति हि—

के समान देखे इस डण्डे से इत्ते 'तड़' से पिटूँगा । मेरा पौरुष देखो ।

राजा—उस अवसर पर मालती की कलियों से दन्न बनाओगे—मालती  
कुञ्ज में सुसकर छिन बाओगे ।

विदूषक—तो फिर यह क्या है ?

राजा—सखे ! मैं सोचता हूँ कि स्फटिक की दीवार के दूसरी ओर खड़ी  
सुन्दरी दीवार के स्वच्छ होने से इधर सुव्यक्त हो रही है । तो आओ केलि-  
कैलास के पीछे से इसका परिचय प्राप्त करें । ( वैसा करते हैं )

विदूषक—वह अमी अमी भग गई क्योंकि देवी के वास-भवन की ओर  
अल्पष्ट पद-चिह्न दिखाई देते हैं ।

राजा—मित्र ! आनका कल्याण हो । इस सुन्दरी का अनुगमन करते हमें  
याद रखियेगा ।

( नेपथ्य में ) त्रिलिङ्गाधिपति की जय हो । टोपहर की बेल आप के लिए  
सुतकर हो । इस समय—

घत्ते पद्मलता दलेप्सुरुपरि स्वं कर्णतालं द्विपः  
 शम्पस्तम्बरसान्निद्यच्छति शिखी मध्येशिखण्डं शिरः ।  
 मिथ्यालीढमृणालनोटिरभसाद् दंष्ट्राङ्कुरं शकरो  
 मध्याह्ने महिपञ्च वाञ्छति निजच्छायं महाकर्दमम् ॥४३॥

अपि च

विद्वन्तीनां स्नातुं जपनचिन्तिदेशैर्मृगहृशां  
 यद्गन्धः संप्राप्तं प्रमदघनवाप्यास्तटमुवम् ।  
 गभीरे तन्नाभोबुधरपरिणाहाप्वनि सरत्  
 कुहूङ्कारस्कारं रचयति च नादं भ्रमति च ॥४४॥

विदूषकः—भो, देवोए भवणं गदुअ मज्झगसंझं णिज्जत्तिअ विस्सा पउत्तिं  
 लयस्वीअदु । (भोः, देव्याः भवनं गत्वा मध्याह्नसन्ध्यां निर्वर्त्य तस्याः प्रवृत्तिर्लक्ष्यताम्।)

इति ध्यावालकविकविराजराजशेखरविरचितायां विद्वशाल-  
 भञ्जिकाव्यनाटिकायां प्रथमोऽङ्कः ।



पद्मलता के दलने का इच्छुक शार्धा दोनहर की गर्नी से व्याकुल हो अपने ऊपर अपने बड़े बड़े कानों को चला रहा है, घासों के रसात्वादन को स्वागकर मगूर अपने शिर को अपने पंखों के अन्दर छिपा रहा है। सुअर ने कमल की बड़ को खोद खोद कर खाना चन्द कर दिया है और भैंसा अपने शरीर पर लेप करने के लिए गहरे कीचड़ की इच्छा कर रहा है ॥ ४३ ॥

और भी

स्नान के निमित्त प्रवेश करती हुई मृगनयनियों के जपन प्रदेश तक चल में जाने पर प्रमद-घन की वादलों का जल पहले तो घकके से तट-भूमि की ओर चला गया। तदनन्तर उन मृगनयनियों की गर्मीरनाभि में वेग से धुसता हुआ उब्य स्वरित 'कुहू' प्वनि करता और चकर काटने लगता है ॥

विदूषक—भोः, महाराजो के भवन में चकर मध्याह्नकालीन सन्ध्यापासन पर उस सुन्दरी का वृत्तान्त जानें ।

प्रथम अङ्क की हिन्दी व्याख्या समाप्त



## अथ द्वितीयोऽङ्कः ।

( ततः प्रविशतः सम्मुखीने चैत्र्यौ ) ।

एका—(परिक्रम्य इतरामञ्जले विधाय) हला तरंगिए ! हिअअ-पदिट्ठ-दराअक्खरायिअ लक्खीअसि । जदो संमुहागदं पि मं अणालविय थिदासि । ( हला तरंगिके, हृदयप्रतिष्ठितराजाश्वरेव लक्ष्यसे । यतः सम्मुखगता-मपि मामनालय स्थितासि । )

द्वितीया—( समालिङ्ग्य ) सहि कुरंगिए ! मा कुप्प, गौरी मे कुप्पदु, जइ तं मए दिट्ठासि अण्णहिअअत्तणेण । ( सखि कुरंगिके ! मा कुप्प, गौरी मे कुप्पदु यदि त्वं मया दृष्टासि अन्यहृदयत्वेन ।

कुरङ्गिका—सहि ! कीदिसं अण्णहिअअत्तणं । ( सखि ! कीदृशमन्य-हृदयत्वम् ? )

तरङ्गिका—तादिसं, जादिसेण तुह वि पुरदो मंतअंतीए वि उक्कंपदि विअ मे हिअअं । ( तादृशं, यादृशेन तवापि, पुरतो मन्त्रयमाणाया अपि उत्कन्धत इव मे हृदयम् ) 65118/B-1433

( इसके बाद दो दासियाँ एक दूसरे के आमने-सामने प्रवेश करती हैं )

एक—( घूमकर दूसरी का अञ्जल पकड़कर )

हे तरंगिके ! मादृश होता है कि तुम्हारे हृदय में राजा की मूर्ति प्रतिष्ठित है, जिसके ध्यान में तुम लीन हो । इसीलिए यद्यपि मैं सामने आई, तथापि तुमने बात-चीत नहीं की ।

दूसरी—सखि कुरंगिके ! नाराज न हो ! मुझ पर देवी जी कोप करें यदि मैंने तुमको अन्यमनस्क भाव से देखा हो ।

कुरङ्गिका—सखि अन्यमनस्कता कैसी होती है ?

तरङ्गिका—बैसी, जैसे तुम्हारे भी सामने गुप्त बातों को कहते हुए मेरा हृदय काँपता सा है ।

कुर०—हिअअणिविसेसम्मि जणे आसंकीं कोदूहलं मं पुच्छावेदि ।  
( हृदयनिर्विशेषेऽपि जने आशङ्कमानां कौतूहलं मां प्रच्छयति । )

तर०—जहा तहा भोटु ण पच्छादइसं, णहि सिणेहो जुत्ताजुत्तनु  
रंघेदि । ( यथा तथा भवतु न प्रच्छादयिष्यामि । न हि स्नेहो युक्तायुक्-  
मनुरुणद्धि । )

कुर०—अदो ज्जेव्व मे आसंघो कथं विअ सहकारलट्ठीए कलकण्ठी  
कुंठिदरुपणआ होदि । ( अत एव मे आशङ्का कथमिव सहकारयन्त्र्यां कचकन्धी  
कुंठितप्रणया भवति । )

तर०—एव्वं तथा वि भणीअदि सुदमंतनंरखणं कत्तु कज्जसिद्धिए  
कारणं । ( एवं तथापि भण्यसे, श्रुतमंत्रछरणं सख्य कार्यसिद्धेः कारणम् )

कुर०—मा एव्वं भण, कथं विअ जीअतादो किकलासादो सिरसुवणं  
पावीअदि । ( मैवं भण, कथमिव बोधतः कुकलासाच्छिरः सुवर्गं प्राप्यते । )

तर०—सुणादु पिअसही । अत्थि एत्थ कुंतलेसुं चंडमहासेणो णाम  
राभा, तस्स णिअराज्जपरिबभट्टस्स इह आगदस्स दुहिआ कुवल्लयमाला  
णाम णम्मदामज्जणुत्तिण्णा देवादिट्ठा हिअअं च से पविट्ठा । तां च

कुरञ्जिका—अभिन्न हृदय पर भी शङ्का करती हुई मुझसे कौतूहल पूछने के लिए प्रेरित करता है ।

तरञ्जिका—बैसा भी हो, मैं नहीं छिपाऊँगी । स्नेह उचित और अनुचित का लिहाज नहीं करता ।

कुरञ्जिका—मेरी यह आशङ्का है—सहकार की डाली से कोयल का प्रणय मन्द कैसे हो सकता है ।

तरञ्जिका—अच्छा, मैं तुमसे कहती हूँ—सुनी बातों को गुप्त रखने से ही कार्य की सिद्धि होती है ।

कुरञ्जिका—ऐसा मत करो—गिरगिट के धाँते की उसका मुनहय सिर कैसे कोई पा सकता है ।

तरञ्जिका—दियसखि ! सुनो—कुन्तल देश में चण्डनरासेन नामक राजा है । वह राज्यपरिभ्रष्ट यहाँ आया है । उसकी कन्या कुवल्लयमाला नर्मदा में स्नान करके निकली ही थी कि महाशय ने उसे देखा और वह उनके हृदय में

पडिच्छिदवदी देवी णिअमादुलभावुकस्स मिअंकवम्मस्स किदे । तण्णि-  
मित्तं अ विवाहोअरणाइं सञ्जीकाटुं पेसिदहि । तग्गदमणए मए ण तुमं  
लक्खिदासि । ( शृणोतु प्रियसखी ) अस्सत्थ कुन्तलेतु चण्डमहासेनो नाम राजा  
तस्य निजराज्यपरिभ्रष्टस्य इहागतस्य दुहिता कुवलयमाला नाम नर्मदामञ्जनो-  
त्तीर्णां देवदृष्टा हृदयञ्चास्य प्रविप्य । ताञ्च प्रतीप्यती, देवी निजमातुलभावुकस्य  
मृगाङ्गवर्मणः कृते । तन्निमित्तञ्च विवाहोपकरणानि सञ्जीकर्तुं प्रेषितास्मि ।  
तद्गतमनसा मया त्वं न लक्षितासि । )

कुर०—अहो देवीए विदद्धत्तणं एव्वं किल किदे सवत्तीलाभो परि  
हृदो भोदि, चंदवम्ममादुलस्स सिणेहो वि दंसिदो भोदि । ( अहो  
देव्या विदग्धत्वं, एवं किल कृते सवत्तीलाभः परिहृतो भवति, चन्द्रवर्मणो मातुः  
स्नेहोऽपि दर्शितो भवति । )

तर०—तुमं एण कहिं पत्थिदासि । ( त्वं पुनः क्व प्रेषितासि । )

कुर०—अञ्ज देवीए अलिअविवाहेण विडंविटुं आणत्तो अञ्जचारा-  
अणो । तद्विवाहसामग्गीं संपादेटुं एण अहं पेसिदाम्हि । ता एहि दुवे  
वि अहो जधासमीहिअकञ्जसिद्धोए गच्छहा । [ इति निष्क्रान्ते ] ( अद्य  
देव्या अलीकविवाहेन विडम्बयितुमारुत आर्यचारायणः, तद्विवाहसामग्गीं

समायी हुई है । महारानी जी उस ( कुवलयमाला ) को अपने मामा के पुत्र  
मृगाङ्गवर्मा के लिए चाहती हैं । उसी के निमित्त विवाह-सामग्री तैयार करने  
के लिए मैं भेजी गई हूँ । उनके कार्य में मेरा मन लगा था, इसी से तुम्हारी  
ओर ध्यान नहीं गया ।

कुरङ्गिका—महारानी का मी कैसा चातुर्य है । ऐसा करने से एक सौत  
के आने की आशंका मी दूर हो जायेगी और उधर चन्द्रवर्मा की माता का  
स्नेह भी दर्शित होगा ।

तरङ्गिका—तुम कहाँ जा रही हो ?

कुरङ्गिका—आज महारानी जी मिथ्या-विवाह से आर्य-चारायण की  
विडम्बना करना चाहती हैं । उसी विवाह की सामग्री तैयार करने के लिए

संपादयितुं पुनरहं प्रेषितास्मि । तस्मादेहि द्वे अपि आवां ययात्तमीहितकार्यसिद्धये  
गच्छावः । )

इति प्रवेशकः

( ततः प्रविशति सोत्कण्ठो राजा विशेषविभूषितो विद्रूपकश्च )

राजा—( मदनाकृतमभिनीय )

तस्मिन् पद्मशरे स्मरे भगवता भर्गेण भस्मीकृते  
जानाम्यक्षयसायकं कमलभूः कामान्तरं निर्ममे ।  
यस्यामीभिरितस्ततश्च विशिखैरापुद्गमग्नात्मभि-  
र्जातं मे विदलत्कदम्बमुकुलस्पष्टोपमानं वपुः ॥ १ ॥

( सन्तापमभिनीय )

विलीयेन्दुः साक्षादमृतरसवापी यदि भवेत्  
कलङ्कस्तत्रत्यो यदि च विकचेन्दीवरवनम् ।  
ततः स्नानक्रीडाजनितजडभावैरवयवैः  
कदाचिन्मुख्येयं मदन-शशिखिपीडापरिभवम् ॥ २ ॥

मैं भेजो गई हूँ । तो आगे अपने-अपने काम को पूरा करने के लिए  
दोनों चले ।

इति प्रवेशक

( उत्कण्ठित राजा और विशेष सुसज्जित विद्रूपक रंगमञ्च पर आते हैं )

राजा—( कामावेश को प्रकट करता हुआ )

मादूम होता है—योंच बाण वाले कामदेवकी जब शंकर भगवान् ने मरम  
कर दिया तो ब्रह्मा ने एक दूसरे ही अक्षय बाणों वाले कामदेव की रचना  
की है, जिसके बाण हर तरफ से मेरे शरीर में पुद्गलभाग तक गहरे घुस गये हैं और  
मेरा शरीर कदम्बकी खिलती हुई कलियों के उपमान-भाव को प्राप्त हो गया ॥१॥

( सन्ताप का अभिनय कर )

यदि चन्द्रमा गल कर छायात् अमृत रस की चायली हो चाय और  
उसका कलङ्क ( चिह्न ) कमल-वन के रूप में विकसित हो चाय और उसमें  
स्नान करने से मेरे अङ्ग शीतल हों, तब कदाचिन् कामदेव के बाणों की पांहा  
दूर हो सके ॥ २ ॥

अपि चं, सखे चारायण !

मन्द्रादरः कुसुमपत्रिषु पेलवेषु

नूनं विभर्ति मदनः पवनास्रमद्य ।

द्वारप्रकाण्डसरलाः कथमन्यथाऽमी

श्वासाः प्रनर्तितदुकूलदशाः सरन्ति ॥ ३ ॥

तन् फुल्लातिमुकलवालाञ्छनस्य तुषारपुञ्जनान्नः कदलीगृहस्य

मार्गमादिश ।

विदूषकः—( संज्ञा निर्दिशति )

राजा—कथमलुग्गा मौनमुद्रा ?

विदूषकः—( भूमावधराणि लिखति )

राजा—अष्टादशलपिविदो वयं न त्वदीयाक्षरग्रहणे विचक्षणाः ।

विदूषकः—( दन्तैर्बिड्ढामवदन् ) भो ! दिक्खिदः क्वु अहं मज्जे

चिट्ठामि । ( दीक्षितः खल्वहं मौने तिष्ठामि । )

और भी, मित्र चापदन !

मादम होता है कामदेव अब कोमल कुसुम-शरों का तिरस्कार कर पवन का अत्र धारण करने लगा है । इसलिये मेरी सोंसे नासा से स्कन्धपर्यन्त इतनी सोंधी लम्बी निकल रही हैं, जिनसे शरीर के वस्त्र चञ्चल हो रहे हैं ॥ ३ ॥

फूलों हुई माधवलता जिसका पहिचान का चिह्न है, तुषारपुञ्ज नामक कदलीगृह का मार्ग बताओ ।

विदूषक—( सङ्केत से बताता है )

राजा—कैसी यह मौनमुद्रा है जो टूट नहीं रही है ।

विदूषक—( भूमि पर अक्षर लिखता है )

राजा—इन अक्षरों से जिनसे जानते हैं परन्तु तुम्हारे अक्षरों को पढ़ने में असमर्थ हैं ।

विदूषक—( दाँतों तले जीभ दबाकर ) अरे मैं दीक्षा ग्रहण कर चुका हूँ, अबः मौन धारण किये हूँ ।

राजा—किमिति ?

विद्वपकः—देवी मं संपदं परिणाइस्सदि । ( देवी मां साम्प्रतं परिणाय-  
यिष्यति । )

राजा—तामेव चिरन्तनत्राहाणीम् ।

विद्वपकः—णहि णहि । ( नहि नहि )

राजा—अन्या का ?

विद्वपकः—ओअल्लागतस्स मिअंकवम्मस्स पुरोहिदस्स दुहिदा वन्तु  
एसा । ( ओयल्लागतस्य मृगाङ्गवर्मणः पुरोहितस्य दुहिता खल्वेषा । )

राजा—किंनामधेयः पुरोहितः ?

विद्वपकः—सस-सिगो, घरिणी इमस्स मिअतिह्विआ, भविस्सघरिणी  
अ मे तद्दुहिदा अंघरमाला णाम । ( शश-शृङ्ग, शद्विष्यस्य मृगतृष्णिका  
भविष्यद्दुहिणी च मे तद्दुहिता अम्बरमाला नाम । )

राजा—( स्वगतम् ) मन्ये देवी उपहसितुमेनमिच्छति । तज्जोपमा-  
स्महे । वर्धतां परिहास-लतां ।

राजा—यह क्यों ?

विद्वपक—आज महारानी जी मेरा विवाह करायेंगी ।

राजा—उसी पुरानी दादाणी से ।

विद्वपक—नहीं, नहीं ।

राजा—फिर यह क्यों है ?

विद्वपक—वह ओयल्ला से आये हुए मृगाङ्गवर्मों के पुरोहित की कन्या है ।

राजा—पुरोहित का क्या नाम है ?

विद्वपक—शशशृङ्ग और उनकी पत्नी मृगतृष्णिका और उसकी कन्या का  
नाम अम्बर-माला है, जो मेरी शद्विणी होने जा रही है ।

राजा—( अपने मन में ) मैं समझता हूँ महारानी जी इनका मजाक  
करना चाहती हैं, तो मैं चुन रहूँ और यह परिहास की लता बढ़ती रहे ।



( ततः प्रविशति चैव )

( परिक्रम्य पुस्तोऽञ्जोक्त्य ) कथं एस देवो चाराअणवद्दण्णेण समं कोट्टूहल्लवरस्स तुसारपुञ्जस्स संजवणसण्णिहिदो वट्टदि । ता विण्णवेमि देवीसंदिट्ठं । (उपसृत्य) जअटु जअटु भट्टा । देवी विण्णवेदि, चाराअणो मए दुट्ठोआं परिणाइदुमाणत्तो ता तुन्हेहिं चाराअणमित्तकेहिं होदब्बं । एदं च कोट्टूहल्लवलं कदं कदलीघलं पविसटु देवो । देवी सपरिअणा इट्ठो ज्वेव वट्टदि । [ इति प्रवेशं नाटयति ] ( कथमेव देवश्चारयणब्राह्मणेन समं कौतूहल्ल-गृह्यत्वं तुषारपुञ्जस्य सज्जनसन्निहितो वर्तते ! तस्मात् विशययामि देवी-सन्दिष्टम् । अन्तु जयन्तु मर्ता । देवी विज्ञायति, चारायणो मया द्वितीयां परिणाययितुम् आगतः । तद् सुम्नाभिश्चारयणमित्रकैर्मवितन्वम् । एतच्च कौतूहल्लगृहं प्रविशतु देवः । देवी सन्निवना इत एव वर्तते । )

( ततः प्रविशति देवी कृतवधूयी-वेषश्चेत्यो विभवतश्च परिवारः ) ।

देवी—हला मेहले ! अत्तगो जामाटुअस्स कुगमु मुहावलोजणं ( हला मेहले ! आत्मनो जामातृकस्य कुब मुहावलोऽङ्गम् । )

॥ ३९ ॥

( इसके बाद दासी अंगन में पर आती है )

( घुमकर सामने की ओर बेलकर )

चारायण ब्राह्मण के साथ कौतूहल्लगृह तुषारपुञ्ज के चतुःशालके सन्निकट महाराज जी यह कैसे उपस्थित हैं, तो महारानी का संदेश जाता है । स्वामी का जय हो ! महारानी जी कह रही हैं कि अंगन में चारायण का दूसरा विवाह करने जा रही हूँ, तो आप चारायण के मित्र रूप में अंगन पर उपस्थित रहें और यह कौतूहल्लगृह ही कौतूहल्लगृह बनाया गया है । इसमें महाराज जी चले, परिजनों समेत महारानी भी पड़ी हैं ।

( इस प्रकार राजा से प्रवेश करने का अभिनय कराती है । )

( इसके बाद महारानी जी, वधु-वेष में दास एवं सामग्रीसमेत सेवकवृन्द )  
देवी—अरे मेहले ! अग्ने जामाता का मुख देख ।

मेखला—( तथा विषाय शिरसि चाघ्राय ) अञ्ज चाराभण ! उवरिधेनु रत्तंसुअं कुणमु तारामेलणं ! ( आर्यं चारायण ! उपरि बेहि रत्तांशुकं इव तारामेलनम् )

विदूषकः—( तथा करोति )

देवी—मेहले ! तुरिदं देवावेसु भामरीओ, जेण प्पज्जलिदे हुदवहे लाअंजलीओ मुंचेदि । ( मेखले ! त्वत्तिं दापय भ्रामर्यः येन प्रज्वलिते हुतवहे लाञ्जाञ्जलि मुञ्जति । )

विदूषकः—( तथा कृत्वा ) अयि दुदोअवहाणि धुवं सत्तरिसिमण्डलं च पेक्ख । ( अयि द्वितीयब्राह्मणि, ध्रुवं सप्तर्षिमण्डलं च पश्य । )

चेतः—( विलोक्य ) दिट्ठधुओ दिट्ठसत्तरिसिमण्डलो अ संवुत्तोह्मि । ( दृष्टध्रुवो दृष्टसप्तर्षिमण्डलश्च संवृत्तोऽस्मि । )

विदूषकः—अयि मुद्धे ? दिट्ठधुआ दिट्ठसत्तरिसिमण्डला अहं त्ति भण । ( अयि मुग्धे ! दृष्टध्रुवा दृष्टसप्तर्षिमण्डला च अहमिति भण । )

( चेत-विदूषकौ पुनः पुनस्तथाऽभिव्यधतः )

चेतः—अञ्ज चाराभण ! देवीदासो टमरुओ क्खु अहं क्हं परिण-आणि । ण सुणीअदि दीवंतरे वि एसा वत्था जं पुरिसो पुरिसं परिणेदि

मेखला—( वैसा कर और शिर सूँघकर ) आर्यं चारायण ! ऊपर लाठ वर्य रक्खो । तारा-मेलन ( परस्परदलोकन ) करो ।

विदूषक—( वैसा करता है )

देवी—मेखले ! भोंवरें बल्ती डलवाओ, जिससे दर प्रदीप्त अग्नि में लाञ्जाञ्जलि छोड़े ।

विदूषक—( वैसा करके ) अयि मेरी द्वितीय ब्राह्मणि ! ध्रुव और सप्तर्षि-मण्डल को देखो ।

दास—( देखकर ) मैं ध्रुव तथा सप्तर्षि-मण्डल को देख चुका ।

विदूषक—अरी भोश्री ! मैं ध्रुव तथा सप्तर्षि-मण्डल देख चुकी—ऐसा कहो । ( दास और विदूषक बार बार वही अन्ना अन्ना वाक्य दोहराते हैं । )

दास—आर्यं चारायण ! मैं महारानी की का दास टमरुक हूँ, कैसे विवाह करूँ । किसी द्वीप में भी ऐसी बात नहीं होती कि पुरुष का पुरुष से अथवा स्त्री का

इत्थिआ वा इत्थिअं । अंबरमाला जण अंबरमाला ज्ञेव । ( आर्य चारायण देवीदासो डमदकः खल्वहं कथं परिणयानि । न च द्वीपान्तरेऽपि एषा वार्ता श्रूयते यत् पुत्र्यः पुत्र्यं परिणयति स्त्री वा स्त्रियम् । अम्बरमाला पुनरम्बरमालैव )

विदूषकः—आः दासीए सुदे ! पुराणकुट्टिणि ! मगरदादे ! भमरटेण्टे ! टेण्टाकराले ! कोसवड्डिणि ! रच्छालोड्डिणि ! त्रुडिदसंघलिदे ! परपुत्त-विहाविणि ! विसमकत्तरि ! वड्डिदद्धि तुए, ता रक्खिअरस अत्ताणं । ( आ दास्याः सुते ! पुराणकुट्टिनि ! मकरदंष्ट्रे ! भ्रमरटेण्टे ! टेण्टाकराले ! कोशवर्धिनि ! रथ्यालुण्डिनि ! त्रुटितसंघटिते ! परपुत्रविद्रावणि ! विषमकर्त्रि ! वड्डितोऽस्मि त्वया, तस्माद्रक्षाऽऽत्मानम् । )

[ सर्वे हसन्ति ]

विदूषकः—( अपक्रामति )

राजा—देवि ! विलक्षः क्रुद्धश्चारायणः कुवलयवीथीं प्रतिगतः । अस्माभिरपि गन्तव्यम् । तत् केनचिन् कर्पूरद्वीपादागतेन नरेन्द्रेण सिद्धौपधैर्भाषवीलतामण्डपो माञ्जिष्ठस्तदकालङ्कृतः कृतस्तददृष्टचरं

स्त्री से विवाह होता हो । अम्बरमाला तो अम्बरमाला ही ( अम्बरमाला-आकाश कुसुम )

विदूषक—अरी दासी की पुत्री ! पुरानी कुटनी, मगर के-से दाँतों वाली, भ्रमर की तरह इधर-उधर घूमने वाली, झगड़ा, दूसरों के धन से कोश बढ़ाने वाली, सुपा-पानादि से सड़क पर लोटने वाली, दुश्चरित्रों के साथ रहने वाली, दूसरों के पुत्रों को भ्रष्ट करने वाली, विपरीत कर्म करने वाली ! तुमने मुझे छला है, तो तू अपने को बचा ।

( सब हँसते हैं )

विदूषक—( चला जाता है । )

राजा—देवि ! लज्जित चारायण क्रुद्ध हो कुवलयवीथी की तरफ चला गया । हमें भी जाना चाहिए । कर्पूर द्वीप से आये हुए एक वैद्य ने सिद्ध औषधियों से माधवीलता-मण्डल को मजीठ रंग के लाल फूलों के गुच्छों से अलङ्कृत कर दिया

चरितमवलोकयितुं प्रियवयस्यमावर्जयितुं च गच्छामः । त्वं मुनस्त्वदद्भुतं  
प्रदोषे द्रक्ष्यसि ।

देवी—कुरंगिय ! देवतादुर्दीअस्स अज्जपुत्तस्स पास्सवत्तिणी होहि ।  
( कुरंगिके ! देवताद्वितीयस्याऽऽर्यपुत्रस्य पार्श्ववर्तिनी भव । ) इति सपरिवारा  
निष्क्रान्ता ।

कुर०—( परिक्रामितकेन ) इदो अज्ज चाराअणो मालदीगुम्भन्तरे  
वन्दी विअ मुहमेत्तणिलुक्को चिट्ठादि । ( इत आर्यचाराअणो मालदी-  
गुम्भान्तरे वन्दीव मुत्तमाअनिलंक्कस्तिअति । )

राजा—तद्दानयैनम् ।

कुर०—( किञ्चिदुपसृत्य ) भो ! अम्बरमालावह्मह देवो याहरदि  
[ इत्यञ्जले कर्पति ] ( भो अम्बरमालावह्म ! देवो व्याहरति । )

विदूषकः—आः दुट्टासि । भविस्सकुट्टिण ! तुमं पि मं उअहससि,  
ता अमुणा तुल्लदेसजणमणकुटिलेण दण्डकट्टेण सीसं वत्ति ताडइस्सं ।  
( आ दुट्टासि ! भविष्पत्कुट्टिणि ! त्वमपि माअुपहससि, सस्सादमुना दुम्भदेश-  
अनमनःकुटिलेण दण्डकाष्ठेण धोर्पन्ताडिति ताडविष्पामि । )

हे । हम इस अदृष्टपूर्व कर्म का अवलोकन करने तथा प्रियमित्र को रोकने आ  
रहे हैं और तुम उस अद्भुत काम को सायंकाल के समय देखना ।

देवी—कुरङ्गिके ! आर्यपुत्र अपनेले हैं, तू इनके रुनीय रह । ( पेश  
आदेश देकर परिवर्तनी सहित चली गई )

कुरङ्गिका—( पूजने का अभिनय कर ) मालती कुंड के अन्दर वन्दों की  
भाँति जिनका मुखमाथ दिखाई पड़ रहा है, आर्य चाराअण इधर हैं ।

राजा—उनको ले आ ।

कुरङ्गिका—( कुछ मिला जाकर )

हे अम्बरमाला के वह्म ! महाराज बुधा रहे हैं ।

विदूषक—अरे दुष्ट टासि ! कुट्टिणि ! तू भी मेरा उपहास करती है । तो  
तुम्हारे देश के लोगों के मन की भाँति तेरे इस डण्डे से तुम्हारे शिर को “दड़”  
से पटूँगा ।

राजा—कुरङ्गिके ! देवीमनुवर्तस्व, तत्परिवारे क्रुद्धश्चारायणः ।

कुर०—(निष्क्रान्ता परिक्रामितकेन )

विदूषकः—पिअवअस्सविणोदत्थं महामन्तिकारिदा रअणवदी  
णाम पुरदो चउक्किआ । किं एण ताए वि एसा अधिदेवद व्व ।  
( प्रियवपस्वविनोदार्यं महामन्त्रिकारिता रत्नवती नाम पुरतश्चतुष्किदा । किं  
पुनस्तत्सामप्येसाऽधिदेवतेव । )

राजा—( विजेक्य स्वगतम् ) हृदय ! विष्टया वर्षसे स्वप्नदृष्टजनप्रत्य-  
क्षदर्शनेन । ( तं प्रति ) सखे चारायण ! सैवेयम् अस्मन्मनःशिखण्डि  
ताण्डवायित्री वर्षालक्ष्मीः । इदमन्यत्ते कथयामि, पुराणप्रजापतिनिर्मा-  
णमेया । यतः—

चन्द्रो जडः कदलिकाण्डमकाण्डशीत-  
मिन्द्रीवराणि च विमूत्रितविभ्रमाणि ।

येनाक्रियन्त सुतनोः स कथं विधाता

किं चन्द्रिकां क्वाचिदगीतरुचिः प्रसूते ? ॥ ४ ॥

राजा—कुरङ्गिके ! महापत्नी के पास जा, चारायण उनके परिवारों पर क्रुद्ध हैं ।

कुरङ्गिका—( घूम कर चली गई )

विदूषक—आप के विनोदार्य महासंभ्रा के सामने यह रत्नवती नामक चौकी बनवाई गई है, उस पर मां यह अधिदेवता सी है ।

राजा—( देखकर अपने मन में ) हृदय ! स्वप्न में देखे हुए जन का प्रत्यक्ष दर्शन कर भाग्य से तुम बड़ रहे हो । ( चारायण से )

यह वही हमारे मन-मयूर को नचाने वाली वर्षा की घोमा है । तुम से यह  
; और कहता हूँ यह किसी पुराने ( महानुभवों ) द्रव्या का रचना है । क्योंकि  
जिसने चन्द्रमा को बड़, कदली-स्तम्भ को अनुपयुक्त अवसर पर भी शीतल  
रहने वाला एवं इन्द्रावर को विमूत्रित ( व्यक्रमजड ) और विभ्रम ( चंचलता  
रहित ) बनाया, वह इस सुन्दरी का निर्माता कैसे हो सकता है । क्या कहीं सूर्य  
चन्द्रिका उत्पन्न कर सकता है ? ॥ ४ ॥

अपि चास्याः खलु लक्ष्यामि तामिव वयोऽवस्थामलंकुरुते, यन्वां  
दिवानिदमभिनवाकल्पविकल्पगतमानसा तिष्ठति । तथाहि—

उत्तालालकभञ्जनानि कयरीभारेषु शिक्षारसो  
दन्तानां परिकर्मनीयि-नहनं भ्रूलास्ययोगप्रहः ।  
तिर्यग्लोचनत्रेष्टितानि वचसां छेकोक्तिसंक्रान्तयः  
स्त्रीणां म्लायति शैशवे प्रतिकलं कोऽप्येव केलिक्रमः ॥ ५ ॥

विदूषकः—( आकारमाकल्प्य सोपहासन् ) भो एहि इदो भवौन  
देवीए सभासं गच्छसि । ( भो एहि इदो भूत्वा देव्याः सकाशं गच्छावः । )

राजा—सत्वे ' पश्यामस्तावन् ।

विदूषकः—किं तुमं गण्ठवधिरौ विभ ठाणे थकासि ता गुड्चीदंडो  
व्य भवं इधज्जेव दाड्ढधरो भोदु । अहं उग देवीए सभासं गच्छेसि ।  
( किं त्वं ग्रन्थिवधिर इव स्थाने स्तलसि । तस्माद् गुड्चीदण्ड इव भवानिहैव  
दादयंपरो भवतु । अहं पुनर्देव्याः सकाशं गच्छामि । )

और मैं देखता हूँ ( कि ) इसकी आयु उस नन्दा को अलंकृत कर रही  
है, जिसमें दिन-रात मन में नये-नये नकल-विकल्प उठा करते हैं । जैसे—  
चञ्चल अलकों को रोचना ( चञ्चल अलकों को हाथों से ठीक करते रहना ),  
चोरी सूँघने की कला सीखने में आनन्द पाना, दाँतों को ( उचित साधनों से )  
स्वच्छ और मोहक बनाना, नंदी कर दाना, भ्रू-नर्तन की रीतियों का ज्ञान  
प्राप्त करना, तिरछे नेत्रों से हास-मास प्रकट करना और अर्थांतरगमित वचन  
बोलना—ये सब गुण ( युवानस्या में ) उनमें ( त्रिनों में ) समागतः आ जाते  
हैं । शैशवावस्था बँतते-बँतते त्रिनों का प्रतिष्ठान यह एक अपूर्व केलि-क्रम  
रहता है ॥ ५ ॥

विदूषक—( आकार [ मन के भाव ] नमस कर उपहासपूर्वक ) आओ,  
इधर से होकर महारानी के पास चलो ।

राजा—मित्र ! पहले इसे देख तो लें ।

विदूषक—क्या तुम ग्रन्थिवधिर सा स्थान पर गिरते हो, तो आर गुरिच-  
दण्ड की तरह नहीं बने रहो । मैं तो महारानी के पास जाता हूँ ।

राजा—सर्वं सम्भाव्यते त्वयि ! किं मधु कपायति ?  
विदूषकः—( विहस्य पुरोऽवलोक्य च ) भो उपफालसमुपफालनाई  
करेहि लग्गा । ( मो उत्फालसमुत्फालनानि करयोर्लग्नानि । )

राजा—( विहस्य ) कन्दुकेन क्रीडति । तथा हि—

अमन्दमणिनूपुरक्वणनचारुचारिक्रमं,

झण्जझणितिमेललं खलिततारहारच्छटम् ।

इदं तरलकङ्कगावलिविशेषधाचालितं,

मनो हरति सुभ्रुवः किमपि कन्दुकक्रीडितम् ॥ ६ ॥

विदूषकः—एवं एदं ( एवमेतत् )

चंचलचलणचण्डचारक्रमचलितचेलां

अविरलवेणिवेल्लितभल्लवलनधुतविकासितमल्लिकं ।

सोहृद घणरणंतरसणामणिकिकिणी चअं

चंदमुहीए रअणरंगंगणे गेदुअकेलितांडवं ॥ ७ ॥

( चञ्चलचरणचण्डचारक्रमचलितचेलां

अविरलवेणिवेल्लितभल्लवलनधुतविकासितमल्लिकम् ।

शोभते घनरणद्रशानामणिकिकिणोचयं

चन्द्रमुख्या रत्नरङ्गाङ्गणे कन्दुककेलिताण्डवम् ॥ ७ ॥ )

राजा—गुम्हारे लिए सब कुछ सम्भव है । क्या मधु गुम्हें कतैला लगता है ?

विदूषक—(हँसकर और सामने देखकर) अरे ! हाथों का उछाल-कूद हो रहा है ।

राजा—( हँसकर ) गेंद खेल रही है । जैसे—

हे सुभ्रु ! मणिमय नूपरों की अमन्द घनि से पैरों की गति सुन्दर लग रही है, करघनी की सुदृ घष्टिकाओं से झन झन ध्वनि निकल रही है, कण्ठ प्रदेश में मुक्ताहार लटक़ा हुआ दित रहा है एवं चंचल कंकणों से विशेष ध्वनि निकल रही है, इस प्रकार की गुम्हारी कन्दुकक्रीडा मन को हर लेती है ॥ ६ ॥

विदूषक—( ऐसा ही है )

चञ्चल चरणों को तेजी से आगे रखने से यत्र चञ्चल हो रहे हैं, वेणी के बारबार छड़कने एवं हिलते रहने से उसमें गुँवे मल्लिका के पुष्प नीचे गिर रहे हैं एवं करघनी की किङ्किणी अत्यन्त शब्द कर रही है । रत्न-अदित रंगभूमि के प्रांगणमें चन्द्रमुखी की इस प्रकार की कन्दुक-क्रीडा अत्यन्त सुन्दर लग रही है ॥ ७ ॥

राजा—

अस्याः स्वेदाम्बुबिन्दुच्युतविलकृतया व्यक्तवक्त्रेन्दुकान्ते-  
र्वारिवारेण वेगप्रहणननदनाकेलिवाचालितायाः ।  
तत्पातोत्पात-तानोन्नतविनतदृशस्ताडनोत्ताललीला-  
लालित्वाच्छान्दिताः स्मः प्रतिपदमधुना कन्दुकक्रीडितेन ॥ ८ ॥

( भूयो विगाध्य ) अहह ! महता वेगेन वर्तते । तथा हि—  
चैलाञ्चलेन चलहारलताप्रकाण्डैर्वेणीगुणेन च दलाद्वलयीकृतेन  
हेलाहितभ्रमरकभ्रमिमण्डलीभिश्चक्रत्रयं रचयतीत्य चिरं नवभ्रूः ॥ ९ ॥

( पुनर्निरूप्य )

स्मरदारधिनिकाशं कर्णपाशं कृशाङ्गी  
रयविगलिततालोपत्रताटङ्कमेकम् ।  
बहति हृदयचोरं कुङ्कुमन्यासगौरं  
वलयितमिव् नालं लोचनेन्दीवरस्य ॥ १० ॥

राजा—पसोने की बूंदों से <sup>सुन्दरी</sup> का तिलक छुल जाने से स्वयं मुखचन्द्र-  
दान्ति वाली, बारबार वेग से गेंद मारने की नृत्यकेलि में स्फूर्ति युक्त एवं गेंद  
के नीचे गिरने और ऊपर उठने के तान के अनुसार नाचे ऊपर जाते हुए  
नेत्रों वाली इस सुन्दरी के गेंद मारने और उछालने की ललित लीला के कारण  
इस कन्दुकक्रीडा से इस समय पग-पग पर हम हर्षित हो रहे हैं ॥ ८ ॥

( पुनः सोचकर ) अहह ! दड़े वेग से गेंद खेल रही है ।

वस्त्राञ्चल, चञ्चलहार की उत्कृष्ट लड़ियों एवं वरपूर्वक वेष्टित वेणुसूत्र से  
कुम्हार के चाक की विरहृत करने वाले गोलाकार चक्र काटने से वह छत्री  
भीहवाली सुन्दरी तान घुट सा बनाती है ॥ ९ ॥

( पुनः सन्दक् अवलोकन कर )

कामदेव के तरकस के सरस, वेग के कारण, टूटते-पूटते, सारस से निर्मित  
कर्णभूषण वाला, कुङ्कुम लगाने से गौर तथा नेत्र-कमल का लयेय हुआ नाल  
सा, इस दुबले-पतले शरीर वाली सुन्दरी का अनुपम कर्णनाथ हृदय की जुप  
लेटा है ॥ १० ॥



विदूषकः—भो, विरदा गेंदुअखेलगादो ( भो, विरदा कन्दुकक्रीडनात् । )

राजा—न केवलं विरता सखी, किंनु करतलन्वस्तपागिपद्मा सप्रत्यभिज्ञमिवास्मानथलोक्ष्यति च । पश्य—

वक्त्रश्रीजितलत्रितेन्दुबदिदं कृत्वा करे कन्दुकं

क्रीडाकौतुकमिश्रभावमनया व्यर्हं बहन्त्याननम् ।

भुङ्गाप्राग्दृष्टकृतेकदलसर्पावतीनां दृशां

दीर्घापाङ्गनरीक्षणैकमुद्दामेपोऽस्मि पात्रीकृतः ॥ ११ ॥

विदूषकः—भो एहि अणुसरह्य सुंदरी । भोटु प्पेम्मदुट्टोली । पीजटु दिट्टीय पीऊसगंडूसो । दिज्जटु मअणस्स हत्यावलंबो, पअट्टु पंचमहुंकारा-  
हिचारो । भोटु विक्कट्टुवमरो परिवारवमो । अच्चिज्जटु मअरध्वजसं  
धिविमाह्वंचिन्ताधाउलदाए कंठहिंदजोविदो चाराअणयहाणो । ( भो एहि  
अनुतरावः सुन्दरीम् । भवतु प्रेमसाफल्यम् । पीयतां दृष्ट्वा पांयूषगण्डूरम् ।  
दीपतां मदनत्य हस्तावल्म्बः, प्रवर्ततां पञ्चमहृद्वापभिचारः । भवतु विक्कट्टुर्भरः  
परिवारवर्गः । अर्च्यतां मकरध्वजसन्धिप्रिप्रश्चिन्तायाकुलतेयो कण्ठद्विपतर्जवितदचा-  
रायन्ब्राह्मणः । )

विदूषक अरे ! गेंदु खेलना बन्द कर दिया ।

राजा—केवल खेलेना ही नहीं बन्द कर दिया, किन्तु हथेली पर हथेली रख प्रत्यभिज्ञा ( स्मृति की सहायता से, उत्पन्न कर्तु) पूर्वक हमें देख भी रही है । देखो—

मुझ की शोभा से पराजित अतएव लज्जित कर्तव्य के समान ( कर्मनि )  
कन्दुक को हाथपर रख, क्रीडा और क्रीडहल के मिश्रित भाव वाल मुझ को  
विरता-उद्देश्य किये इस सुन्दरी ने, मीरों को बलात् आकृष्ट करने वाले कौतुकप्र  
से स्वर्षा करने वाले तथा कनखियों से देखने में अत्यन्त निपुण अपने नेत्रों  
का हमें पात्र बनाया ॥ ११ ॥

विदूषक—आवो । सुन्दरी का अनुसरण करें । प्रेम सफल हो । दृष्टि से  
अमृत रस निवो । कामदेव को हाथ कर सहारा दो । क्रीडहल की पुकार शुरू  
होने दो । आभितवन अत्यन्त दुर्भर हों काम-सम्बन्धी सन्धि-विग्रह की चिन्ता  
से ब्याकुल होने के कारण कण्ठगत प्राण चारापण ब्राह्मण की अर्चना करो । .

( परिक्रम्य तोपानावतरणं नाटयतः )

विदूषकः—अदेवं देवकुलं, अणकखरो लेहो, जदो ण दीसदि सा ।  
( अदेवं देवकुलं, अनखरो लेखः, यतो न दृश्यते सा । )

राजा—दृष्ट्वा हरिश्चन्द्रपुरीय नष्टा च ।

विदूषकः—एहि गिउणं णिरूपहा । सा कहिं पि अभ्यंतरिदा चिट्ठिदि ।  
( चतुर्दिशमवलोकितनाटितकेन )

राजा—( सविपादं भुवनवलोक्य )

इयं चरणकुङ्कुमच्छुरितकुट्टिमा मेदिनी

निवेदयति कन्दुकव्यतिकरं कुरङ्गीदृशः ।

अहो किमिदमद्भुतं न च कृशोदरी दृश्यते

भवत्वचगतं स्मरः सृजति मोहनायामि माम् ॥१२॥

( सन्तोषमभिनीय समन्तादवलोक्य च )

शिखामणिरितोऽरूणरितिलक्यत्यं मेदिनी-

मितो गलितगुम्फकं चालयेणिवान्ताः स्मर ।

( दोनों घूमकर सीढ़ियों से उतरने का अभिनय करते हैं )

विदूषक—देवकुल बिना देव का, लेख बिना अखर का जो वह दिखाई नहीं पड़ती है ।

राजा—हरिश्चन्द्र की पुरी की तरह दिखाई दी और गायब हो गई ।

विदूषक—( चारों तरफ देखने का अभिनय करता है )

राजा—( विपाटसहित भूमि की ओर देखकर )

मृगनयनी के चरणों के कुङ्कुम से लित फर्शवाली यह भूमि उसके कन्दुक-  
व्यसन को सूचित कर रही है, किन्तु कैसा आश्चर्य है वह कृशोदरी दिखाई  
नहीं पड़ रही है । अच्छा, जान गया, कामदेव यह मोह भावा किया करता  
है ॥ १२ ॥

( सन्तोष का अभिनय कर और चारों ओर देखकर )

उसकी लाल चूड़ामणि इधर गिरी हुई है, जो पृथ्वी को अलङ्कृत कर  
रही है । मृगन के शिथिल हो जाने के कारण चञ्चल वेणी से सूट कर माटा

## द्वितीयोऽङ्कः

इत्तञ्छुरितमन्तरा शुद्धितहारमुक्ताफलै-  
रितः श्रवणपाशतस्तलजपत्रमास्ते च्युतम् ॥

विदूषकः—मुट्टु कतु सण्णिवेस-सिलिट्टं तालवत्तं । ( मुट्टु छतु सत्रिवेस-  
सिलिट्टं तालवत्तम् । ) [ आदाय प्रसार्य च ] कथं अक्खराइ ? अंदो पिअय-  
अस्स जइ कालक्खरिओसि ता पट । ( कथमत्राणि ? अंदो प्रियवयस्य,  
यतः कालाक्षरिकोऽसि तस्मात् पठ । )

राजा—( वाचयति )

विघत्ते सोल्लेखं कतरदिह नाङ्गं तरुणिमा  
तथापि प्रागल्भ्यं किमपि चतुरं लोचनयुगे ।

( विभाव्य ) अये, द्विपदीयं न पुनरत्रापि चतुष्पदी ।

विदूषकः—भोः गंडआ विअ उद्वजाणुओ केरिचरं चिट्टिस्सामो । ता  
एहि मत्तवारणोपरि उवविस्सहं । ( भो गण्डआ विवेदोद्वंजानुको कियच्चरं  
स्यात्सावः । तस्मादेहि मत्तवारणोपरि उवविस्सहं । ) तथा कुरुतः ।

इधर गिरी है । निम्नस्थ भूमिगत टूटे हुए के मोरि को देखते हैं । इधर कर्णपाश  
से तालीपत्र गिरा हुआ है ॥ ३३ ॥

विदूषक—सत्रिवेस में सिलिट्टं तालवत्तं है । ( लेकर और दे. वाकर ) अरे  
इसमें तो अक्षर लिखे हैं । प्रियमित्र, तुम विद्वान हो, पढ़ो ।

राजा—( बौचता है )

वैसे तो यौवन किस अङ्ग को छुन्टर नहीं कर देता अर्थात् सभी अङ्गों में  
निसार पैदा कर देता है, किन्तु नेत्रों में एक विशेष प्रगल्भता ( चंचलता )  
उत्पन्न कर देता है ।

( सोचकर ) अरे इसमें दो ही पद नहीं, चार पद हैं ।

विदूषक—अरे गंडे की तरह लेंकडू ( घुटने के बल ) कथ तक बैठे, रहेंगे ।  
आदो मत्तवारण ( अक्षरी ) के ऊपर बैठे । ( दोनों वंसा करते हैं )

४ वि०

( नेपथ्ये )

यत्तालोदलपाकपाण्डुवदनं यद् दुर्दिनं नेत्रयो-

र्यत्प्रेहोलितफेलिपङ्कजदलं दयासाः प्रसर्पन्ति च ।

गौरी कृष्यतु वर्तते यदि न ते तत् कोऽपि चित्ते युवा

धिग् धिक् त्वां सह पांसुखेलनसखी लोकेऽपि यन्निहवः ॥१४॥

विदूषकः—( चमत्कृत्य ) भोः सिहाबंधं मे करेहि, अमाणुसी वागी सुणीअदि । ( भोः शिखाबन्धं मे कुरु, अमानुषो वागी श्रूयते । )

राजा—भित्त्यन्तरितः कश्चिदभिघत्ते ।

विदूषकः—तदो बकखाणेहि मे । ( तस्माद् व्याख्याहि मे । )

राजा—काचिन् क्वचिदनुरक्ता लज्जावती च वयस्यया भिन्नरहस्या क्रियते । नेपथ्ये—( सवाक्स्त्वम्भम् ) सहीओ ! किं एत्थ अलिभं संभावेध ? ( सत्यः किमत्र अत्रिकं समावयय ? )

( नेपथ्य में )

तुम्हारा मुख पके तालोपत्र की भाँति खो पीला हो गया है, नेत्रों से आँसुओं की जो सड़ी लगी रहती है, सॉस लम्बी प. रहती हैं, हाथ में लिप्ट हुए कं.डा-कमल की पैतुडिमाँ वेग से टिल रही हैं, तो अदृश्य तुम्हारे मन में कोई युवक बसा हुआ है । यदि ऐसा न हो तो पार्वती की का कोप मुझ पर हो । धूल में साय साय खेडने वाली बचरन की सखियों से भी तुम जो दुःख छिपाव रखती हो—तुम्हें धिक्कार है ॥ १४ ॥

विदूषक—( चौंकर ) अरे मेरी शिखा बाँधो । कोई देवी वाणी मुनाई पढती है ।

राजा—दीपाल की आड़ से कोई बोल रहा है ।

विदूषक—मुझसे समझाकर कहो ।

राजा—कोई ( स्त्री ) किसी युवक में अनुरक्त किन्तु लज्जावती है, अतः उनकी सखी उससे रहस्य प्रकट कराने के लिए प्रयत्न कर रही है ।

( नेपथ्य में )—( स्तब्ध वाणी में )

सखियों ! क्यों तुम लोग मिथ्या कल्पना करती हो !

राजा—वयस्य श्रुतम् ।

विदूषकः—ही ही भोः, एदे क्खु पंडिदा अलिअविअपेहिं फललुद्धा विअ मर्कडामूलमलहंता पल्लवगाहिणो होन्ति, मुक्खा उण फणसवण-  
सालआ विअ मूलमण्णेसंता फलं पावइ, ता सुगोदु, अहं ज्जेव्व वक्खाण-  
इस्सं । ण क्खु एदं सामण्णजणववणं, किं तु त्थं ज्जेव्व उवाअभोअसि ।  
ण क्खु मिअलंछणमुज्जीय अण्णेअ ससिकंतपुत्तलिआ चद्ध-णिज्झरा  
पञ्जरइ । ( ही ही भोः, एते खलु पण्डिता अलीकविकल्पैः फललुद्धा इव मर्कटा-  
मूलमलभमानाः पल्लवगाहिणो भवन्ति, मूर्खैः पुनः पनसवनपालक इव मूल-  
मन्विष्यन् फलं प्राप्नोति । तस्माच्छृणोतु, अहमेव व्याख्यास्यामि । न खल्वेतत्  
सामान्यजनवचनं किन्तु त्वमेवोपालभ्यसे । न खलु मृगजञ्जनम् उद्विग्नत्वाऽन्येन  
चक्षिहान्तपुत्रिका बदनिर्ज्ञेयं प्रहस्यति । )

राजा—तदिदं तर्कं, अनाकरे पद्मरागरत्नम् ।

( पुनर्नेपथ्ये )

कह दे तक्खणं प्फुडिदसिअपिसंपुडमुक्कमोतिअच्छाआ ।

थक्कं तु सुमुहि अणंजणाणं णअणाणं वाहकणा ॥१५॥

( कथं ते तस्मिन्स्फुटितमुद्रितमूर्खैः फललुद्धाया ।

स्त्रीक्रीयन्तां सुमुखि अनंजनयोर्नमोदरिभक्तयोः ॥१५॥ )

राजा—मित्र ! तुमने सुना ।

विदूषक—ही हो अरे ये पंडित लोग मिया विकल्पों से फललुद्धा चन्दरे  
को भौंति मूल न प्राप्त कर पत्रव ग्रहण करते हैं और मूर्ख कटहल के धारीके के  
मालों की तरह मूल का अन्वेषण करता फल प्राप्त करता है । तो सुनो ! मैं ही  
व्याख्या करूंगा । यह सामान्यजन के लिए नहीं कहा गया है किन्तु तुम्हारी ही  
शिक्षापत्र को जा रही है । चन्द्रकान्त का पुतली चन्द्रमा के अतिरिक्त दूसरे  
के जल-प्रभाव करती नहीं पसन्न होती ।

राजा—तो मैं यह समझता हूँ कि बिना खान के खल रत्न निकला ।

( पुनः नेपथ्ये )

तत् काल सीरी के खुले सम्पुट से निकले मोतियों के समान तुम्हारे अश्रु  
विन्दु क्यों ( गिर रहे हैं ) ? हे सुन्दरि ! इन्हें चन्द करो ॥ १५ ॥

सक्किसिहि कंहं वत्तु पसरन्तपारदरसच्छित्तकंचरुच्छाअं ।  
तणु कदलीए परिपंडुरत्तणं डिभहरिणच्छि ॥१६॥

( शिष्यसे कथं तद्व प्रसरत्प्राग्दरससिक्कवाध्ननच्छायम् ।  
तनु कदल्याः परिपाण्डुरत्वं डिभहरिणास्ति ॥१६॥

कहं णु तुए तरालज्जंति कैलिपकेरहमाक्खलणेण ।  
णीसासा द्विअहारलट्टिनंठाणपरिमाणा ॥ १७ ॥

( वयन्तु त्वया शयन्ते कैलिपकेरहामस्तलनेन ।

निशामाः स्थितहारवपित्तस्थानपरिमाणाः ॥ १७ ॥ )

निविट्टणट्टकिदकंचुअत्तणं एणुइ पुणो देहदोष्वलन ।

वदणं पुग हरिणं कविंदीणं कंहं णु होइ ॥ १८ ॥

( निविट्टकण्ठकित्तकञ्चुकत्वं एणुति पुनर्देहदोषत्वम् ।

वदनं पुनर्हरिणद्विभ्वदीनं कथं नु भवति ॥ १८ ॥ )

अइ तुह विज्जाइरमल्लदेअदंसणेण एणुइमागदा भंगीओ ।

ण विगा चंदं सेहालिआए विअसांनि ह्मुमाइ ॥ १९ ॥

( अत्र तव विद्याधरमल्ल देव दर्शनेन सुट्टमागता भद्रपः ।

न विना चन्द्रं शोफालिकाया विक्खन्त ह्मुमानि ॥ १९ ॥ )

विदूषकः—सिचिण्णआदिट्टा हिंदोलियाचित्तसंचारिदासात्तर्भाजवत्तणेण  
परिपदा गेदुअत्तेलिणी कञ्चवंधवअणा सजा ज्ञेय एसा तुणे अक्खिना

हे मृगशापरनर्यान् ! पारा के रस से सिक्त मुदर्ण की सी छिटकती  
कान्ति वाले शरीर को कदली को पीतिमा क्यों लिखा रही ? ॥ १६ ॥

तुम्हारे निःश्वास ( वर में स्थित ) क्रीडाकमलके अप्रमाय पर से होते हुए  
हार की लड़ियों तक पहुँच रहे हैं—इतने दीर्घ निःश्वासी का दुर्हो अतमन  
क्यों नहीं हो रहा है ? ॥ १७ ॥

तुम्हारे कञ्चुक पुलकों से वन्दरिच हैं एवं तुम्हारे शरीर के दीर्घत्व का  
प्रस्फुटन हो रहा है । तुम्हाप मुख चन्द्र-दिग्ग सा टोन क्यों हो रहा है ॥ १८ ॥

विद्याधरमल्ल देव के दर्शन से तुम्हारे समी ब्रताने—तुम्हापि चालें स्व  
व्यक्त हो गईं । चन्द्रमा के विना शोफाली के पुष्प नहीं खिलते ॥ १९ ॥

विदूषक—स्वप्न में दिग्गाई दी, एते के चित्र में दिक्क, शास्त्रमण्डित के  
रूप में परिणत हुई, गेट खेतों लगे, वाप्य भचना काने लगी, सचमुच दुर्नने

तुह चित्तं अन्वलीवदि । ( स्वप्नस्थ हिन्दोलिकाचित्रसंचारिताशालभञ्जिकत्वेन परिणता बन्दुकखेलिनी काव्यबन्धवचना सत्त्वेव एषा स्वया आधिना तव चित्त-  
माक्षिरति । )

( नेत्र्ये ) सहि मिअंकावलि ! संपद्रं मए णिसगगत्याए दूदीएहोदव्यं ।  
( सखि मृगाङ्कावलि ! सम्प्रतं मया निसर्गतमया दूत्या भवितव्यम् । )

राजा—सैवेयमस्मन्मनासि मन्मथेनेदानोमुत्कीर्यते मृगाङ्कावलीति पञ्चाक्षरी ।

( नेत्र्ये ) रइदा मए तुहावत्थागिवेदणत्थं महाराअस्स पुरदो पण्णिञ्जा दुवे सिलोआ, ते पियसहीए मुणीअट्टु । ( रचिती मया तवापत्या निवेदनाय महाराजस्य पुरतः पदनीयां दो श्लोकौ, तौ प्रियसखी शृणोतु । )

( संस्कृतमाश्रित्य )

चन्द्रं चन्दनकर्दमेन लिम्बितं यन्माष्टिं दृष्टाघरा  
कामः पुष्पशरः किलेति मुमनोवर्गं लुनीते च यन् ।  
वन्द्यं निन्दति यच्च मन्मथममौ भङ्क्त्वाऽप्रहस्ताङ्गुली  
न्तत् कामं सुभग ! त्वया परतनुर्वातूलता लम्बिता ॥ २० ॥

इसे आकृष्ट किया है और यह तुम्हारे चित्त को आकृष्ट कर रही है । ( नेत्र्य में )  
सखि मृगाङ्कावलि ! अब मैं तुम्हारी स्वाभाविक सखी इती हूँगी ।

राजा—‘मृगाङ्कावली’ के वही मुझे पाँच अक्षर मेरे मन में खोद खोद कर  
अङ्कित कर रहा है ।

( नेत्र्य में ) तुम्हारी अवस्था बताने के लिम्बित महाराज के सामने पढ़े  
जाने योग्य मैंने दो श्लोकों की रचना की है, उन्हें प्रिय सखी सुनो ।

( संस्कृत में )

( चन्द्रमा उसे तार देता है, अतः बदला लेने के लिए आकाशस्य साक्षात्  
चन्द्रमा को न पकड़ सकने के कारण ) चन्दन के रस से चन्द्रमा की आकृति  
बनाकर दाँतों से अवरोध काय्यी ( क्रुद्ध हो ) उसे विनष्ट करती है । पुष्प कामदेव  
के बाण हैं, अतः सभी प्रकार के पुष्पों को तोड़कर विनष्ट करती है । अँगुलियाँ  
फोड़ फोड़कर वन्दनीय कामदेव को बुरा-भला ( गाली ) सुनाती है । हे  
सुभग ! तुमने अपनी इच्छाभर उस सुन्दरी को उन्मादावस्था की इस सीमा तक  
प्राप्त कर दिया है ॥ २० ॥

अपि च ।

तापोऽम्भः प्रसृतिन्पचः प्रचयवान् वाप्पः प्रगालाञ्चितः  
 श्वासाः प्रेङ्गितहारयष्टिलतिकाः पाण्डिन्नि मग्नं वपुः ।  
 किं वाऽन्यत् कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने  
 हस्तच्छत्रनिवारितेन्दुमहसत्त्वत्याः स्थितिर्वर्तते ॥ २१ ॥

विदूषकः—अहं छण जाणे अणुप्पविसीअ चलिट्टुम् । अहो, इह सुण्ण-  
 चठ्ठिआसण्णा केवि बल्लरक्खसा जप्पंति । भूअपिसाचावासट्ठाना  
 संहा सण्णिहिदा वट्ठदि, ता एहि गच्छल्ल । ( अहं पुनबाने अनुप्रविद्ध  
 चलितुम् । अहो, इह शून्यचतुष्किक्कासत्ताः केऽपि बल्लरक्खसा बल्लरन्ति । भू-  
 त-विद्याचावासस्याना सन्ध्या सन्निहिता वर्तते । तस्मादेहि गच्छावः । )

राजा—यथाह भवान् ( इति उभाववतरणं नाटकतः )

( नेपथ्ये )—सुराय सायन्तनी सन्ध्या भवतु देवस्य । सम्प्रति हि—  
 निर्यद्वासरजीवपिण्डकरणं विभ्रन् कवोष्णान् करान्  
 मञ्जिष्ठं रविविन्ध्यमन्वरतलादस्ताचलं चुन्वति ।

और भा

उसके शरीर का ताप समुद्र को भाँत कर रें, बाला है । नेत्रों से आँसू  
 उमड़कर नाखों की भाँति प्रवाहित होता है । उसके दीर्घस्वात शर की लट्टियों  
 को दोलित करते हैं । शरीर अत्यन्त पीला पड़ गया है । अथवा और क्या कहूँ,  
 हाथ के छत्र से ही चन्द्रमा की किरणों को बचायी हुई ( दर्शनार्थ ) तुम्हारे  
 मार्ग के समीप शरोक्षे से लगी सारी रात बैठी रहती है ॥ २१ ॥

विदूषक—मैं समझता हूँ कि अब दरवाजे से प्रवेश कर चला जाय । यहाँ  
 निर्जन चौकी के पास कुछ ब्रह्मरक्षस बोल रहे हैं । सन्ध्या, जो भूत-विद्याओं का  
 आवास स्थान है, सन्निकट है । तो आओ चलो ।

राजा—जैसा आप का कहना—( ऐता ही हो ) [ दोनों उतरने का  
 अभिनय करते हैं ]

( नेपथ्य में ) तापकालनि सन्ध्या महाराज के लिए मुखर हो । इस समय  
 बाते हुए दिनरुमी बंध का सिन्धुभूत एवं कुछ कुछ गर्म किरणों को धरत  
 करणों मर्बैठ रंग का लाल सूर्यमण्डल आकाशमंडल से अस्ताचल को प्राप्त हो



## द्वितीयोऽङ्कः

किञ्च स्तोकतमःकलापकलनाश्यामायमानं मनाग्  
धूमश्यामपुराणचित्ररचनारूपं जगज्जायते ॥ २२ ॥

अपि च

सैरन्त्रीकरकृष्टकङ्कणसरत्तारध्वनिः सञ्चरद्  
दूतीसूचितसन्धिविग्रहविधिः सोल्लासलीलाचयः ।

वारस्त्रीगणसञ्जयमानशयनः सन्नद्धपुष्पायुधः

श्रीखण्डद्वयधौतसौघतलको रम्यः क्षणो वर्तते ॥ २३ ॥

राजा—सन्ध्यामुपासितुं देवोभवनमेव गच्छायः ।

( इति निष्क्रान्तौ । )

इति विद्वशालनञ्जिकायां द्वितीयोऽङ्कः

---

रहा है । कुछ कुछ अन्धकार आ जाने से थोड़ा थोड़ा श्यामायमान बगत्  
धूम से काले पड़ गए पुराने चित्र सा प्रतीत हो रहा है ॥ २२ ॥

और भी

( कहीं अभिसार के निमित्त ) दासी द्वारा ( लत्रावती नायिका का ) हाथ  
पकड़ कर सींचने से कङ्कण की ऊँची ध्वनि हो रही है । ( कहीं ) दूती ( नायिका  
को ) सन्धिविग्रह की विधि बता रही है । ( कहीं प्रेमी और प्रेयसी का ) उल्लास-  
पूर्वक झोटा, कैलि एवं विलास का क्रम चल रहा है । वेश्यायें अपनी अपनी  
सेब दिछा रही हैं, कामदेव ( घनुष-बाण सहित ) तैयार हो रहा है एवं महलों  
की सतह श्वेत चन्दन के रस से धो दी गई है । इस प्रकार यह सन्ध्या का  
समय रमणीय हो रहा है ॥ २३ ॥

राजा—सन्ध्याोपासन के निमित्त महारानी के भवन में चले । ( ऐसा कहकर  
रंगमञ्च से चले गए । )

द्वितीय अङ्क की 'कला' हिन्दी व्याख्या समाप्त ।



## अथ तृतीयोऽङ्कः

( ततः प्रविशति चेरी )

चेरी—( परिक्रम्य ) को विअ कालो वट्टदि पिअसहीण विअकरणाए दिट्ठाए । उक्कण्ठामरेण असससीअरकरंविअं विअ कग्गिंतमुनलं पु-  
ट्टणभूइट्टं वट्टदि मे हिअअं । ता कहि णु वत्तु तां दक्खिस्सं ? ( पुरोऽवलोक्य )  
वधं एवा पिअसही किंपि चिंतअन्ती इदो एव आअच्छदि । ( कश्च  
बालो वतते प्रियमल्ल्या विचक्षणया हृष्यायाः । उत्कण्ठामरेण अलर्शाकरकरंवि-  
मिव करिदन्तमुसलं स्फुटन भूपिष्टं वतते मे हृदयम् । तस्मात् क्व नु खलु तां द्रक्ष्यामि ?  
कथमेवा प्रियमल्लो किमपि चिन्तयन्ती इत एव आगच्छति ? )

( ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा द्वितीया चेरी )

द्वि० चेरी—( स्वगतम् ) अहो मन्तिणो पद्दुक्कजे णिरदिसआ भत्ती ।  
( अहो मन्त्रिणः प्रमुकायं निरतिशया भक्तिः । )

प्रयत्ना—कथं महाभाअघेअजणकज्जसिद्धी विअ चित्तिदोवगदा विअ  
मही । ( स्वगतम् ) तापच्छा भविअ णअणाइं से पोडिस्सं । ( कथं  
महाभागधेयजन कार्यसिद्धिरिव चिन्तितोपनता प्रियमल्लो ! तत्रश्वात् भूत्वा  
नग्ने अस्याः पीडयिष्यामि । )

( इसके अनन्तर दासी रंगमञ्च पर आती है )

दास ( घूमकर ) प्रियमल्लो विचक्षणा का दर्शन पाये बहुत समय हो गया ।  
अत्यन्त उत्कण्ठा से मेरा हृदय पटा सा जा रहा है । तो देखो कहाँ तसका दर्शन  
होगा ! अरे ! कैसे वह प्रियमल्लो कुछ सोचती इधर ही आ रही है ?

( इसके बाद यथानिर्दिष्ट दूसरी दासी रंगमञ्च पर आती है )

दूसरी दासी—( अपने मन में ) अहो ! स्वामी के कार्य में मन्त्री की  
कितनी अधिक भक्ति है ।

पहली—( मन में ) महान् व्यक्ति की कार्यसिद्धि की भाँति चिन्तन करते ही  
कैसे प्रियमल्लो आ गई ! तो इसके पीछे झाँककर इसके नेत्रों को ( हरेलियों से )  
आच्छादित करूँ ।

## तृतीयोऽङ्कः

द्वितीया—पिअसहीए सुलक्खणाए करप्फंसो । ( प्रियसख्याः सुलक्षणायाः करस्पर्शः । ) [ प्रकाशम् ] सहि सुलक्खणे ! जाणिदासि ता मुंच पअणाई । ( सखि सुलक्षणे ! ज्ञातासि, तन्मुञ्च नयने । )

सुलक्षणा—( नयने परित्यज्य सप्रणयकोपम् ) हला विअक्खणे ! एतहमेते वि सल्लिसित्तक्षणगुणगंठिगाटे वि सिणेहे कथं उच्चिण्णसिहाखंजरी-टपक्खिगो विअ अदंसणा चट्टसि ? ता एसा दे कुप्पामि । ( हला विचक्षणे, एतावन्मात्रेऽपि सल्लिसित्तक्षणगुणग्रंथि गाटेऽपि कथमुद्भिन्नशिक्षा खञ्जरोटपक्षिणां व अदर्शना वतसे । तस्मादेपा ते कुप्पामि । )

विचक्षणा—( मप्रश्रयम् )—सहि सुलक्खणे ! मा कुप्प, महामंति-भागुराअणाणओओ एत्थ अवरज्झदि ण उण अहं । ( सखि सुलक्षणे मा कुप्य ! महामन्त्रिभागुरायणनियोगोऽत्र अपराध्यति न पुनरहम् । )

सुलक्षणा—( सोपहासम् ) को तुह्माइंतो अण्णो छगुण्णअविसये-यट्टइ ! ( को युष्मत्तोऽन्यः पाद्गुण्यदिपये विद्यते ! )

विच०—अह्मारिसजणजोमं महिला छगुण्णदंसणत्तएणं क्खु एदं । अस्मादशजनयोग्यं महिलापाद्गुण्यदर्शनत्वं खल्वेतत् । )

दूसरी—प्रिय सखी सुलक्षणा के हाथ का स्पर्श है । ( जोर से ) सखि सुलक्षणे ! मैंने तुम्हें जान लिया, सो मेरे नेत्रों को छोड़ दो ( आँसु पर से हाथों को हटा लो )

सुलक्षणा—अरी विचक्षणे ! जल से मींगी सन की रस्ती की गाँठ की भाँति इतनी अधिक घनिष्टता होने पर भी उद्भिन्न शिक्षा ( जिसके सिर पर कँलगी उत्पन्न हो गई हो ) खंजन पक्षी की तरह दिखाई नहीं पड़ती हो । ( अतएव ) मैं तुमसे अप्रसन्न हूँ ।

विचक्षणा—( नम्रतापूर्वक ) सखि सुलक्षणे ! क्रोध न करो । इसमें महामन्त्री भागुरायण के आदेश का अग्रगण्य है, मेरा नहीं ।

सुलक्षणा—( हँसी के साथ ) राजनीति के छः गुणों में तुम्हारे सिवा और कौन है ?

विचक्षणा—वस्तुतः हम ऐसे लोगों को महिलाओं के छः गुण जानना चाहिए ।

मुल०—महिला छगुणएण जइ महिलाअणस्स अदंसणं ता अह्मा-  
रिसीओ कीति दीसन्ति । ( महिलापाइगुण्येन यदि महिलाजनस्यादर्शनं तद्  
अस्मादस्यः किमिति दृश्यन्ते । )

विच०—कह कीदिसं दे महिला छगुणअं ? ( कयय कीदृश्यन्ते महिला  
पाइगुण्यम् । )

मुल०—तुमं भण दाव उग अहं भणिस्सं, प्पठमं सहआरमंजरी  
उवभिज्जइ पच्छातु कलकण्ठीमुहं सिठिलेदि । ( त्वं भण तावत् पुनरहं  
भणिष्यामि प्रथमं सहकारमञ्जरी उद्भिद्यते, पश्चात्तु कलकण्ठी मुद्रां शिथिलयति । )

विच०—ता सुणु, अहमेअदा भअवदा भागुराअणेग सवहुमाणं  
भणिदा, विअकखणे अह्माणं राअरहस्से तुए साहज्जं कादव्वंति । ( तस्मात्  
शृणु ! अहमेकदा भगवता भागुरायणेन सवहुमानं भणिता, विचक्षणो ! अस्माकं  
राज-रहस्ये त्वया साहाय्यं कर्तव्यमिति । )

मुल०—अहो दे मदिविहवो जं दाणि मंतिणा वि एयं संभावीअसि ।  
अहवा का यण्णणा वकुलावलीगंधमारुग्गोरत्ति । तदो तदो । ( अहो ते  
मतिविभवः यदिदानीं मन्त्रिणाऽप्येवं संभाव्यसे । अथवा का वर्णना वकुलावली-  
गन्धमारोद्गारेति । तस्मत्ततः । )

मुलक्षणा—यदि महिला होकर महिलाओं के छः गुण न जाना तो हम  
क्योंकर देखी जाय ( आवश्यक समझी जाय )

विच०—धताओ, तुमने महिलाओं के षड्गुण किस प्रकार के हैं !

मुल०—पहले तुम कहो, फिर मैं कहूँगी । पहले आमों में मञ्जरी निकलती  
है, तदनन्तर कोयल अपना मान तोड़ती है—बोलती है ।

विच०—तो मुनो ! एक दिन श्रीमान् भागुरायण ने अत्यन्त आदरपूर्वक  
मुझसे कहा—विचक्षणो ! राजा के एक गोननीय कार्य में तुझे मेरी सहायता  
करनी है ।

मुल०—अहो ! तुम्हारा कैसा बुद्धिवैभव है कि आजकल मन्त्री से भी तुम  
इतना सम्मान पाती हो । अथवा वकुलावली ( मौलसिरी वृक्ष ) अतिशय गन्ध  
बिखेर रही है—ऐसी प्रशंसा करना निरर्थक है ( क्योंकि वह तो प्रत्यक्ष ही है ।  
हो इसके बाद क्या हुआ !

## तृतीयोऽङ्कः

विच०—विणओवणदाए मए तघेत्ति षड्विण्णं । कघिट्ठं अ मे तेण,  
जघा, एसो जो मिअंक्वम्मासा मिअंकावली तं परिणीअ सिरि-उवरायेण  
चक्खत्तिणा होदब्बं, ता तुए ननु कदाचिद् भवणभित्तिसंचारे वासघरे  
एसा वासिदब्बा, जेण देवस्स सिविणआयगमो होदि कज्जं तराहं  
देहरदासो कघइस्सदि, एदस्सिं महाराअक्कजरहस्से तुमं तीए पिअ-सही  
राअक्कजसज्जत्ति अउभत्थीअसि । ण हु सोयाणवंतिमंतरेण वलहो  
समारोहो । तदो मए हरदासकघिदक्कजाणुसारेण सा सुधोसद्वं भणिदा,  
अइ सहि मिअंकावलि ! इह वासघरे मकरद्वओ ओदरदि तं अ तहिं  
दट्ठूणकंठद्विदहारकुमुमदामेण सो तुए अविदब्बो, जेण दे ता दिसोभत्ता  
होदित्ति, तए वि नह अउभुवअदं किदंअ । पुणो हिंदोलएदंसिदा केलि-  
केलासवासघरफलिहभित्तिसु अत्तणो चित्तं लेहाविदा, फलिहभित्तिए  
परदो दंसिदा, तदणुवादिणीसालभंजिआ गिम्माविदा, रअणवदीए  
चउक्किआए गइहुएण खेलाविदा, खंमगअभसंचारे तं तं भणाविदा  
मभाविदा अ ।

( विनीतोपनतया मया तयेति प्रतिपन्नम् । कथितं च मे तेन यथा  
एष यो मृगाङ्गवर्मा सा मृगाङ्गावली, तां परिणीय श्रीयुवराजेन चक्रवर्तिना  
भवितव्यं, तस्मात् त्वया ननु कदाचिद्भवनमितिसञ्चारे वासगृहे एषा वासयितव्या,  
येन देवस्य स्वप्नावगमो भवति, कार्यान्तराणि ते हरदासः कथयिष्यति । एतस्मिन्  
महाराजकार्यरहस्ये त्वं तस्याः प्रियसखी राजकार्यसञ्चेति अस्म्यर्थते । न खलु  
सोयानपंचिमन्तरेण बडमीसमारोहः । ततो मया हरदासकथितकार्यानुसारेण सा  
सुनिश्चयं भगिता, अपि सखि मृगाङ्गावलि ! इह वासगृहे मकरध्वजोऽवतरति,

विच०—विनीत भाव से मैंने हाँ कर ली । उन्होंने मुझसे कहा—यह जो  
मृगाङ्गवर्मा है, वह मृगाङ्गावली नामक स्त्री है । उसके साथ विवाह कर श्री  
युवराज, चक्रवर्ती हो बौँयगे । तो तुम किसी समय भवन-भित्ति-सञ्चार वासगृह में  
उसे रखना जिससे स्वामी स्वप्न में उसे देखें । अन्य कार्य तुमको हरदास बताये-  
गा । महाराज के इस गोपनीय कार्य में तुम मृगाङ्गावली की प्रियसखी बनो  
और राजा का काम बनाने के लिए तैयार रहो—यही तुमसे प्रार्थना है । विश्वास  
रखना कर मैंने मृगाङ्गावली से कहा—अपि सखि मृगाङ्गावलि ! इस वासगृह में

तत्र तस्मिन् दृष्ट्वा कण्ठस्थितहारकुसुमशाम्ना स त्वयाऽर्चितव्यः, देन ते वाट्यो भर्ता भवतीति । तयापि तयाऽभ्युरगतं कृतञ्च । पुनर्दोलायां दर्शिता, केलिकैलास-वास्यहस्तिकभित्तिषु आत्मनश्चित्रं लेखिता, स्तदिकभित्तेः परतो दर्शिता, तदनु-वाटिनी शालभाञ्जिका निर्मापिता, रत्नवत्याञ्चतुष्पिकायां कन्दुकेन खेडिता । स्तम्भगर्भमञ्चारे तत्तद्गणिता भामिता च )

मुल०—अथ तं विविह्विलसासिहि पेक्खन्तेण महाराण्णं किं पट्टिचण्णं ।  
( अथ तां विविचविलासैः पश्यता महाराजेन किं प्रतिपन्नम् । )

विच०—जं केलि अरिणी चाडुकमे चलिदो अरण्णकरी पट्टिवज्ज-  
ससदि । नदां नरुणपोकुल्लगुच्छविच्छुरिद्वदधिडसामलङ्गीगण्डविसदामु  
सुद्धजामिणीमु असमजसं विप्पलवदि तं जया । ( यत् केलिकरिणत्वाडु  
कमे चलितोऽप्यरिणी प्रतिपत्स्यते । ततस्तदगप्रोत्कुल्लगुच्छविच्छुरितद्रविड-  
न्यामलाङ्गीगण्डविसदामु सुद्धजामिनीषु असमजसं विप्रलपति । तद् यथा । )

कामदेव प्रकट होते हैं । उनका दर्शन पाने पर अपना कण्ठस्थित हार चढ़ा कर उनकी अर्चना करना—बिससे उन्हीं ऐसा तुम्हें पति मिले । उसने मां अङ्गीकार कर लिया और बैसा ही किया । फिर झूले पर स्वामी को अपना दर्शन दिया, केलिकैलास नामक वास्यहस्त की स्तदिकमय दीवारों पर अपना चित्र चित्रित कराया । ( तदनन्तर ) स्तदिक को दीवार का आड़ में दर्शन दिया । अपने रूप से सर्वथा मिलती-जुलती शालभाञ्जिका ( मूर्ति ) निर्मित कराई । रत्नाञ्जली को चीकी पर उसने कन्दुक-कीड़ा की । स्तम्भगर्भसंचार यह मैं तत्तद् करलाई गई और गुमाई गई ।

मुल०—इसके अनन्तर अनेक प्रकार के विलास ( हास्य-भाव ) करती देखकर महाराज ने क्या किया ?

विच०—कोटाहस्तिनी की चाडुकारिता में पढा हुआ बन्धहस्ता जो करेगा । इसके दाद दूर विकसित दुष्टों के गुच्छों से दंत द्रविड़ देश की सौंख्यो सुन्दरी के कपोलों के समान उत्रवल स्वच्छ रातों में महापवन असङ्गत प्रत्याप करने लगे । जैसे—

## चतुर्थोऽङ्कः

( संस्कृतमाश्रित्य )

श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः सान्द्रैर्मयी-रूचकै-  
मन्त्रं तन्त्रमुत प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां रुचम् ।  
चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके  
येन द्रष्टुमहं क्षमे दश दिशस्तद्वक्त्रमुद्राङ्किताः ॥ १ ॥

मुक्त०—तीए उग का अवस्था वदुदि । (तस्या पुनः काऽवस्था वर्तते ? )

विच०—( संस्कृतमेवाश्रित्य )

सौधादुद्विजने त्यजत्युपवनं द्वेषि प्रभामैन्दवी-  
भारान् ग्रम्यति चित्रकेलिसदसां वेशं विपं मन्यते ।  
आस्ते केवलमन्दिनीकिसलयप्रस्तारशय्यान्ले  
संकल्पोपनमत्तदाकृतिरमायत्तेन चित्तेन सा ॥ २ ॥

संपदं तुमं कहेहि कीदिसं ते महिलाष्टगुणं ( साम्प्रतं त्वं कथं  
कीदृशन्ते महिलाषाड्गुण्यम् )

( संस्कृत में )

अरे गाड़ी कालिख मुक्त तन्त्र से कृत्वा चूर्णयत को और अधिक  
काली बना दो अथवा तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग कर के त्वं चूर्णयत को मनोहरता  
को दूर कर दो । क्षण भर में चन्द्रमा को शिला पर पटक कर चूर्णयत कर  
पिस डालो, जितसे मैं दसो दिशाओं को उस सुन्दरी का मुख-मुद्रा से अधिक  
देख सकूँ ॥ १ ॥

मुञ्जश्या—उत्त ( मृगाङ्गावली ) को क्या दंशा है ?

विचक्षण—( संस्कृत में )

महल में रहने से उद्विग्न हो जाती है, उपवन को भी छोड़ देता है,  
चन्द्रमा की प्रभा से द्वेष करता है, चित्र-केलि नामक वासपट्ट से भी बहुत दुःखी  
होती है, यत्रानुपम को विप सा समझती है । केवल कलरनाओं से मुक्त तथा  
उत्त ( महापद्म ) के रूप के ध्यान में मग्नचित्त ( प्रहृष्ट ) कल्पितो, के. नवल  
कोमल पत्तों की शय्या पर पड़ी रहती है ॥ २ ॥

अब तुम्हारा त्रियोचित पद्मगुण क्या है ? बताओ ।

सु०—सुणु जादिसं । एकदाहं महाराएण सप्पसादं संदिट्ठा, जया,  
ण तुए णिभिण्णरहस्सा देवी कादुव्वन्ति । ( गृणु यादशम् । एकदा अहं  
महाराजेन सप्पसादं संदिट्ठा, यथा न त्वया निर्भिन्नरहस्सा देवी कर्त्तव्येति । )

विच०—किं विअ तं । ( किमिअ तत् । )

सु०—जहा, अलिअविवाहविलक्खो चाराअणो देवी धात्तेइअं  
पदारिदुमिच्छदि । ता दिणाअसाणसमए तरुणवणराइनीरंधअंपआरे  
केसरतट्टसिहं आरुहिअ पमदुज्जाणमज्झगामिणी मेखला तए साणुणासिअं  
भणिदव्वा, जहा अयि मेहले ! इह वेसाहपुणिणमा पओसे एव तुए  
मरिदुव्वन्ति । भणिदा अ स । ( यथा अलीकविवाहविलक्षणध्वारायणो देवी  
धात्रेयी प्रतारपितुमिच्छति । तथ दिनावसानसमये तरुणवनराजिनीरन्ध्रान्वकारे  
केसरतरुशिखरमारुद्य प्रमदोद्यानमध्यगामिनी मेखला त्वया सानुनासिकं भणि-  
तव्या । यथा, अयि मेखले ! इह वैशाखपूर्णिमा-प्रदोष एव त्वया मर्तव्यमिति ।  
भणिता च सा । )

विच०—तदो तदो । ( ततस्ततः । )

सु०—तदो तीए सज्जसवसवोवदए वट्टं वि तत्त ह्विअ कदण्णिअ-  
दुख्खालिसंपुडाए भणिदं, भअअद अतरोरिणि दिव्वे वाणि ! मं अनुकंपं-

सु०—बैसा है मुनी । एक बार महाराज ने मुझसे प्रसन्न होकर कहा  
के देवा को रहस्य का पता न चरने पावे ।

विच०—महाराज ने तुम्हें क्या बताया ?

सु०—मिथ्या विवाह से अप्रसन्न चारायण देवी की धानी की लड़की  
को छलना चाहता है । तो तुम सायंकाल के समय तरुण-वन के घने अंधकार  
में मालसरी वृक्ष के शिखर पर चढ़कर प्रमदोद्यान के अन्दर जाती मेखला से  
नानुनासिक स्वर में कहना—“मेखले ! इसी वैशाख की पूर्णिमा की शाम को  
ही तू मर जायगी।” और ऐसा मैंने उससे कहा ।

विच०—इसके बाद ।

सु०—तब मय-दश कथित उसने किसी तरह वहाँ रुककर दोनों हाथ  
जोड़कर कहा—हे मगवति अशरीरिणि दिव्ये वाणि ! मुझ पर अनुकम्पा करवा



तीए जघा मरणं तुए जाणिदं जीविदं वि मे जान । ( ततस्तथा साध्वस-  
वश्वेपितया कथमिव तत्र भूत्वा कृतनिविडाञ्जलिमग्नुटया भणितं, मगवति  
अचर्यरिणि दिव्ये वाणि, मामनुकम्पयन्त्या यथा मरणं त्वया शतं बोधितमपि मे  
वानीहि । )

विच०—तदो तदो । ( ततस्ततः । )

सु०—तस्य मए एवमं भणितं, जइ गंधर्ववेअविअक्खगं घड्ढणं  
गुरुणा अत्रमासक्कारेण अहिणंदिअ पाएसु पउंती जंयन्तरमग्गदुवारेण  
मद्धरसि तदो दे जीवितावलंबोत्ति । ( तत्र मवैव भणितम्, यदि गन्धर्व-  
वेअविचड्ढणं ब्राह्मणं गुरुणाऽर्चनारुक्कारेणाभिनन्द्य पादयोः पतन्ती बहान्तरमार्ग-  
द्वारेण सद्धरसे ततस्ते जीवितावलम्ब इति । )

विच०—अहो दे विअक्खगत्तणं । जदो मुणिगो वि एवं सुमरंति,  
पादाहितां बद्धगा पवित्तअंति सड्वं । ( विभाज्य ) अहो कवडपाउअ-  
कइत्तणं यअग्गम्म । तदो ? ( अहो ते वैचअण्णम् । यतो मुनपोऽप्येवं स्मरन्ति  
पादेभ्यो ब्राह्मणाः पवित्रयन्ति सर्वम् । अहो कपटनाटककवित्वं ब्राह्मणस्य । )

सु०—तदो तं मुणिअ मेहलाए अम्मुत्तलज्जलाई उच्चमन्तीए  
महाराअपुरदां एव्य भणिदा देवी । देवेण वि देवी मण्णुं अवहरंतेण  
चारायणचरिदं अ णिव्वहंतेण भणिदं, जह सुंदरि ! मा सण्णा होहि,  
गंधर्ववेअविअक्खणो बद्धणो साहीणो एव । ता किंत्ति अम्मुक्खणकरं-

दुमने जित प्रचार मेरी मृत्यु जान लिया, मेरा जीवन मो जानो—अर्थात् मेरे  
जीवन का मो उपाय बताओ ।

विच०—इसके बाद ।

सु०—तब मैंने कहा—यदि महती पूजा-अर्चना से गन्धर्व वेद के शता  
ब्राह्मण को प्रसन्न कर—चरणों पर गिरती हुई बाँधों के बीच के मार्ग से निकल  
जाओ तो तुम्हारा जीवन रह जायगा ।

विच०—तुम्हारा मो कैसा नैपुण्य है ! मुनि लोग भी स्मरण करते हैं कि  
ब्राह्मण पैरों से पवित्र करते हैं । ( सोचकर ) अहो ! ब्राह्मण ने मो कैसा कष्ट  
नाटक रचा !

सु०—इसके बाद आँसुओं की शलजलाहट से अपने हर्ष को सुखक

विअविवाहुरा वट्टसिन्धि संट्टाविदा देवी । देवीए वि अज्जा सा पुण्णिमेति  
पूआसकारं सञ्जीकाटुं पेसिदहि । ( ततस्तच्छ्रुत्वा मेखलयाऽभ्रुजलज्जलानु-  
द्वयमन्त्या महाराजपुरत एव भणिता देशे । देवेनापि देवी-मन्युमपहरता चारायण-  
चरितं च निर्वाहता भणितं, यथा, सुन्दरि, मा सत्ता भव, गन्धर्ववेदविचक्षणो  
ब्राह्मणः स्वाधीन एव । तस्मात् किमिति अभ्युक्कणकरम्बितविम्बाधरा वर्तस इति  
संस्थापिता देवी । देव्यापि अद्य सा पूर्णिमेति पूजासत्कारं सञ्जीकर्तुं प्रेषितास्मि । )

विच०—ता एहि जघाणिदिट्टमणुचिट्टरसह । [ इति निष्क्रान्ते । ]  
( तस्मादेहि यथानिर्दिष्टम् अनुशास्यावः । )

इति प्रवेशकः

( ततः प्रविशति विरहोत्कण्ठितो राजा स्नानशुचिर्विदूषकश्च ) .

राजा—( अनुध्याननाटितरेण )

क्रमसरलितकण्ठ प्रक्रमोह्लासितोर-

स्मरलितवलिरेखामृषसर्वाङ्गमस्याः ।

कर्ता हुई मेखला ने महाराज के सामने ही महारानी की से सब बातें कही ।  
महाराज ने भी महारानी का क्रोध दूर करते हुए एवं चारायण के चरित का  
निर्वाह करते हुए कहा—सुन्दरि ! दुःखों भंते हो ! गन्धर्व वेद का ज्ञाता ब्राह्मण  
तो अपने अधीन ही है । तो क्यों अपने विम्ब-फल ( पके कुँदरू ) के समान  
लाल अथर को आँखों से गिरते अभ्युक्कण से संयुक्त करती हो । इस प्रकार  
महाराज ने महारानी को आश्वासन दिया । तो आज वही पूर्णिमा है अतएव  
महारानी ने पूजा-सामग्री तैयार करने के लिए मुझे भेजा है ।

विच०—तो आओ निर्देशानुसार हम अपना काम करें । (दोनों निस्क गइं ।)

( प्रवेशक समाप्त हुआ )

( इसके बाद विरह से उत्कण्ठित राजा और स्नान किए हुए विदूषक )

राजा—( ध्यान का अभिनय कर )

मुझे देखने की इच्छा उस सुन्दरी के समस्त अङ्गों का मैं मोल्कण्ड  
स्मरण करता हूँ । मुझे देखते समय उसने क्रम से पहले गर्दन सीधी की,  
( उसका ) उरः प्रदेश ऊँचा हो गया एवं बलिरेखा-मृष भी संरचित हो गया ।

स्थितमतिचिरमुच्चैरप्रपादाङ्गुलीभिः

करकलितसखीकं मा दिदृक्षोः स्मरामि ॥ ३ ॥

विदूषकः—मा समाधानभंगं मे कुग, देवीपुरदो मेहला जीवइदव्वा ।  
(स्वगतम्) अइ दुदुदासि ! दोसिणि कुदो चाराअणो पीडइसदि ।  
(मा समाधानभंगं मे कुग । देवीपुरदो मेहला जीवपितव्या । अयि दुदुदासि,  
दोसिणि, क्रुदधारावणः पीडयिअति ।)

राजा—(तदचनमाकर्ष्य तदेव पुनः पठति)

विदूषकः—मा पुगो पुगो सुमर, संदावदाइणी क्तु एसा । (मा पुनः  
पुनः स्मर, सन्तापदायिनी खलवेया ।)

राजा—किमात्य सन्तापकारिणीसि ? तथा हि पञ्चमकाकलीकलगीतयः  
कर्गं कलुषयन्ति, सुधान्पन्दिनी चन्द्रमूर्तिश्चक्षुषी तापयति, चन्दन-  
रसनिप्यन्दस्तनुं दहति ?

विदूषकः—मो धकरं भए किदं, तुमं जेव्व सव्वदो सारं उचिगसि ।  
हंसो जेव्व जलेहि दुदुमुदरेदि । किं उग मणामि, भए अज्झअणधज्जा  
विअ तुए विमुमरिदा देवी । (मो, चोचं मया कृतम्, तमेव सर्वस्मात्

हाथ से सखा को पकड़े एवं पैरों के बल्लों के बल्ले उठाकर शब्द बड़ी शिरता  
से मुझे देखने लगी ॥ ३ ॥

विदूषक—मेरा ध्यान भङ्ग मत करो । मुझे महारानी के सामने 'मेहला' को  
जीवन प्रदान करना है । अयि दुदुदासि ! धरानिनि ! क्रुद चाराअण  
तुम्हें परेशान करेगा ।

राजा—(उमके वचन को सुनकर पुनः उसी श्लोक को पढ़ता है)

विदूषक—बार २ उसी का स्मरण मत करो । वही तो अधिक सन्ताप  
प्रदान करने वाली है ।

राजा—स्यों सन्तापकारिणी कहते हो ? क्या कोयल का पञ्चमस्वर-पूर्ण  
गान कानों को कलुषित करता है—कानों को अच्छा नहीं लगता !, क्या अमृत  
बरसाने वाले चन्द्रमा का रूप नेत्रों को तप्त करता है ! क्या चन्दन रस का  
लेप शरीर को जलाता है ?

विदूषक—अरे मैं तो भ्रमांक कर रहा था । तुम्हीं तत्र-चपन करना जानते

सारम् उचिनोपि । हंत एव नलेम्नो कुन्धनुकरति । किं पुनर्मपामि, मया अप्प-  
यनविद्येव त्वया विस्मृता देवी । )

राजा—आ शैशवान् प्ररूढप्रणया देवी कथं विस्मर्यते ? किन्तु—  
देव्या निधायोरासि वामपादं यत् सुन्दरीभिः प्रसभेन मुक्तम् ।  
कृतं मनोरिक्थमहो द्विधा वत्तथा विभज्य स्मरशासनेन ॥ ४ ॥

विदू०—अकदा हिदोलदोऽलिदं विअ दे चिसं गमागमाहि ण विरमदि ।  
( अकरनादोऽलान्तोलितनिव त्वच्चितं गमागमान्या न विरमति । )

राजा—एवमेतत् । यतः—

नो मालतीवामविमर्दयोग्यं  
न प्रेम नव्यं सहतेऽन्तरायम् ।  
म्लानापि मोच्या न हि कैसरस्त्रग  
देवी न ग्त्रण्डा प्रणया कथास्त्रिन् ॥ ५ ॥

विदू०—भोः, कि एदंण दविअण्णचण्णोवण्णासेण ? पुग्गणपत्तमणि-  
प्फालिअ णो पण्डओ समुल्लसादि । ण अ तरुणगंठिवण्णअकंदलीक-  
थलण्णदो गंधहरिणो मदणकेदारिआए अहिरमदि । ( भोः किन् एतेन

हो । हंम ही बल से दूध अलग करता है । अच्छा मैं करता हूँ नेरी पदी दिया  
की भीति महारानी को गुनने क्यों मुला दिया ?

राजा—शैशव काल से ही बड़े हुए प्रेमवाली देवी कैसे मुलाई जा सकती  
है ? किन्तु

देवों के दृश्य पर जानों पैर रख डस सुन्दरीने कामदेव के आदेश से मेरे  
मनहारी मंत्रि का बँटवाए कर दो भाग कर दिया ॥ ४ ॥

विदूषक—अकरमात् श्ले पर चडा हुआ सा तुन्दारा चित संकल्प-विकल्प  
से विराम नहीं लेता ।

राजा—ऐसा ही है । क्योंकि—

मालती की माला मत्तने योग्य नहीं । गूजन प्रेम व्यवधान नहीं कर  
पाता । ग्यान होते हुए भी मालिनी की माला छोड़ते नहीं बनती । महारानी  
को से किसी प्रकार भी प्रेम तोडा नहीं जा सकता है ॥ ५ ॥

विदूषक—इन चातुर्यपूर्ण दृश्यों से क्या ? बिना पुराना पत्ता नष्ट कि

दाक्षिण्यवर्गोपन्यासेन, पुराणपत्रमविदार्य न पल्लवं समुल्लसति, न च तद्वगग्रन्थि-  
पत्रं कन्दलीकवलनलुब्धो रान्यहरिणो मदनकेदारिकापाम् अभिरमते ।

राजा—सखे ! निरर्गलवागसि । यदनाशङ्कनीयं तदाशङ्कसे ।

विदू०—किं मम परकेरआए चिन्ताए । ता भणीअसि, मा समा-  
धानभंगं मे कुण, देवीए पुरदो मेहला जीवइदव्वत्ति । ( किं मम परकीय-  
या चिन्तया । तस्मात् मण्णसे, मा समाधानमङ्गं मे कुइ । देव्याः पुरतो मेखत्वा  
बीवसित्तयेति । )

( सतः प्रविशति देवी, प्रयता च मेखत्वा, विभवतश्च परिवारः )

देवी—हला सुलक्षणे । अपि सन्निहितो अन्तेऽरदुवारयन्त्री अञ्जउत्तां-  
चाराअगो अ । ( हला सुलक्षणे ! अपि सन्निहितोऽन्तःपुद्धारस्वतीं मतां चाग-  
यन्ध । )

मुख्यगा—ण अण्णहा देवीए विण्णवीअदि ? ( नान्यथा देव्यै  
विज्ञाप्यते ? )

देव—आ देहि मे मार्गं । ( तस्माद्देहि मे मार्गम् । )

पल्लव नहीं निकलता है, नवीन ग्रन्थिभंग ( गौडर दूष ) के अङ्कुरों के खाने  
का लोभी कर्तुरीमृग धनूरे को क्यारी में नहीं रमता ।

राजा—तुम निरर्गल बातें करते हो । विपन्नो शङ्का नहीं करना चाहिए-  
वसी को शङ्का करते हो ।

विदूषक—मुझे परायो चिन्ता से क्या ! इसीलिए तुम से कहता हूँ कि  
मेरा ध्यान मङ्ग मत करो । महाराजो के सामने 'मेखला' को मुझे जीवन-प्रदान  
करना है ।

( तदनन्तर देवी, प्रयत [ इन्द्रियों को दमन किये हुए सावधान ] मेखत्वा  
तया अरने पद के अनुसार परिव्रज )

देवी—सुलक्षणे ! क्या स्वामी और चारयण अन्तःपुर के द्वार के पास  
व्या गये ?

मुख्यगा—देवी से अत्यन्त नहीं कहा जाता ।

देवी—तो मार्ग-निर्देशन करो ।

कुल०—एदु एदु देवी । ( इति परिक्रामति ) अन्तेरदुवार एव  
भट्टा बट्टदि, ता उवसत्पदु देवी । ( एतु एतु देवी, अन्तःपुरद्वार एव भर्ता  
वर्तते, तस्मादुगर्णतु देवी । )

देवी०—( उपसृत्य ) जेदु अज्जउत्तो । ( बयतु आर्यपुत्रः । )

राजा—इत आस्वताम् ।

देवी—( उपदिश्य विदूषकं प्रति ) अज्ज चाराअण ! देसु मे घत्तेहआ-  
भिकखां जोघावेसु मेहलअं । ( आर्यं चारायण ! देहि मे धात्रेपिक्खामिहां,  
बांनय मेसलाम् । )

विदू०—एस सज्जोद्धि । ( एष सज्जोद्धि । )

नेखला—( वदन्नाङ्गलिः ) अज्ज चाराअण ! अजं जणो तुमं महावज्जणं  
सरणं पट्टियज्जदि । ( आर्यं चारायण ! अयं जनस्त्वां महाव्राह्मणं शरणं  
प्रतिपद्यते । ) [ इति पादौ शिरस्मारोपयति । ]

( नेपथ्ये ) कहिं सा दुट्टदासी, एदे अह्णे कालपुरिसा सिखलार्हिं  
पायिआ । ( क सा दुट्टदासी, एते वयं कालपुरिषाः शृङ्खलाभिः प्राप्ताः । )

विदू०—( भर्ता बट्टविधं दण्डकाष्टमुच्यते ) जहिं अहं पिङ्गलिका-  
बल्लहो गन्धर्ववेअविअक्खणो रक्खको चिट्ठामि । तहिं वो कालो के  
कालपुरिसा का वा कालसिखला । ( यत्राहं पिङ्गलिकाबल्लभो गन्धर्ववेद-

सुरक्षणा—आर्ये ! आर्ये ! स्वामी अन्तःपुर के द्वार पर ही हैं, तो  
देवी जी चरें ।

देवं—( निकट जाकर ) आर्यपुत्र को बच हो ।

राजा—दर पर बैठिये ।

देवं—आर्य चारायण ! धार्य-पुत्री की मुझे नील दो । इत्ते बिलामो ।

विदूषक—यह मैं तैयार हूँ ।

नेखला—( हाथ जोड़कर ) आर्य चारायण ! यह जन आर्य महाव्राह्मण की  
शरण में है । ( ऐसा वह उसके चरणों को शिर पर रख लेता है । ) [ नेपथ्य में ]  
वह दुट्टदासी यहाँ है । ये हम काल-पुरिष शृङ्खला जिन्हे आ गए हैं ।

विदूषक—( उठकर लाठी छानकर ) यहाँ मैं पिङ्गलिका का स्वामी और

विचक्षणो रक्षकत्वग्रामि तत्र कः कालः, के वा कालपुरुषाः, का वा कालशृङ्खला ?  
[ इति बहुविधं बल्गति । ]

मैत्रज्य—( पादयोरन्तरे प्रविशन्तो ) भो ! परित्ताअसुं मं । ( मोः,  
परित्रानत्य माम् । )

विदू०—( उन्वैगांपन्नवार्यं ) भो पेक्ख विलासिणीवद्भरहाहिरूढं  
अत्तनो प्पिअवअस्सं । ( द्विद्विदुन्वैः ) भो मोः पेक्खधमे यद्दगत्तणं  
जेग खलाखलायिदसिखला पगट्टा काल-पुरिसा । ( मोः पश्य विलासिनी-  
ब्रह्मरयाविरूढन् आत्मनः प्रियवत्यम् । भो मोः, पश्य मे ब्राह्मण्यं यत्  
खलाखलायित शृङ्खलाः प्रमथाः कालपुरुषाः । )

मैत्रज्य—भो जोविद्वि । ( मो वंवितास्मि )

विदू०—( सास्तोऽं विहस्य ) आः दासीए मुदे ! अलीअविवाह-  
विडम्बितो ककुद्धो चाराअगो दे पडिअदिअवसितो । ता संपदं एत्तिअमेतं  
आमंसे दीइमभगाकंठणा भोट्टु मे वद्धगी । ( आ दास्याः मुदे ! अली-  
अविवाहेन विडम्बितः क्रुद्धश्चारायणः ते प्रतिकृतिन्वसितः । तस्मात् साम्प्रतमेता-  
वन्नात्रनायसे दास्यमभग्नकण्ठणा भवतु मे ब्राह्मणाः । )

गन्धर्ववेद का विद्वान रक्षक हूँ, वहाँ काल क्या है ? कालपुरुष क्या है ? काल-  
शृङ्खला क्या है ? ( इस तरह बहुविध बकता है । )

मैत्रज्य—( उसके पैरों के बीच प्रवेश करती हुई ) अरे मुझे बचाओ ।

विदूषक—( बोर से गाता हुआ, थोकाकर )

अरे ( मित्र ! ) ( इस ) वेदरारूपां ब्रह्मरप पर चढ़े अपने मित्र को देखो ।  
( कुछ बोर से ) मेरा ब्राह्मणत्व देखो ! खनखनाती शृङ्खला वाले कालपुरुष  
भाग गये ।

मैत्रज्य—अरे ! मैं जीवन पा गई ।

विदूषक—( अट्टहास के साथ हँसकर ) अरे दासी-पुत्रि ! मिय्या-विवाह  
से तिरस्कृत क्रुद्ध चारायण ने बदला ले लिया । तो इस समय इतनी ही अभिलाषा  
करता हूँ कि मेरी ब्राह्मणी चिर सौभाग्यवती हो ।

देवी—अज्ञात ! जुत्तं ण असरिसं णम्म, जं दाणीं दे पिआसिणि-  
हभूमो मेहला एवं विहंवीअदि । ( आर्यपुत्र ! युक्तं न, अत्तदृशं नर्म, यत्ति-  
दानीन्ते पियाम्नेहभूमिमेखलैवं विटम्बयते । )

विदू०—भोदि जुत्तं ण असरिसं णम्म, जं दाणीं महाराअपिअव-  
अस्सो तह विहंविदो । ( भवति, युक्तं न अत्तदृशं नर्म, यत्तिदानीं महाराअपिअ-  
ववस्यस्तथा विडम्मितः । )

देवी०—अज्ञात-संबन्धिओ त्ति तुए सह वक्करं किदं । ( आर्यपुत्र-  
सम्बन्धिक इति त्वया सह चोद्यं कृतम् । )

विदू०—भोदि संबन्धिणी त्ति तए सह मए पडिबक्करं किदं । ( भवति,  
सम्बन्धिनीति तया सह मया प्रतिचोद्यं कृतम् । )

मेखला—देवि, ण सफीअदि एस उत्तरेहि पराजेटुं महाराओ एदस्स  
गुरुः । केअडहुसुमवासिदस्स खदिरस्स अण्णो गंधुग्गारो । ( देवि ! न  
शक्यते एष उत्तरेः पराजेतुं, महाराज एतस्य गुरुः । केतकीहुसुमवासित्तत्त  
खदिरस्वान्यो गन्धोद्गारः । )

देवी—आर्यपुत्र ! यह तो उचित नहीं है, यह दिल्ली अच्छा नहीं है,  
जो इस प्रकार अभी तुम्हारी प्रिया की स्नेह-पात्र मेखला अपमानित की गई ।

विदूषक—श्रीमति ! यह उचित नहीं, यह दिल्ली अच्छी नहीं, जो अभी  
अभी महाराज का प्रियमित्र उस तरह अपमानित किया गया ।

देवी—तुम आर्यपुत्रसे सम्बन्ध ( मैत्री ) रखते हो, अतः मैंने उसके  
साथ बदले में मझाक किया ।

विदूषक—श्रीमती जी ! वह आपकी सम्बन्धिनी है ( स्नेह-पात्र है ) अतः  
मैंने उसके साथ बदले में मझाक किया ।

मेखला—देवी ! यह उत्तरो से पराजित नहीं हो सकता । महाराज इसके  
गुरु हैं । केतकी के पुत्रों से सुवासित खदिर ( रौर ) की एफ विधि ही गन्ध  
होती है ।



( देवी कोपनाट्टिकेन सरिवारा निष्कान्ता )

विदू०—( पार्श्वमवलोक्य ) भो संपदं गिन्नास्त्रिभं महु पिवत्सामो ।

( मोः साग्रत निर्मसिकं मधु पास्यामः । )

राजा—अतिविलक्षा देवी, यतो रुदनी गता ।

विदू०—रुददु रुददु, किं से मांतिआओ गलिम्मंति । ता इदो  
ब्रजागाहिमुहं एदु पियवअस्सो । [ इति परिक्रमतः । ] ( रोदित्तु, रोदित्तु, किम्  
अस्या मौक्तिकानि गलिष्यन्ति । तस्मादित उद्याना भिनुत्तम् एतु पियवयस्यः । )

विदू०—भो मह कण्ठटाविदपागी मसिणणिवेसिदपादनुदं संचर ।  
जदो बहलालिउलणम्मिदं व, तैलमज्जिदकज्जलपुंजसंजणिदं व, ई-  
दपीलचुण्णसंभूदं व, सिदिदकण्ठकण्ठसमुत्थिदं व, पाराअणनणुधिगिगटं  
व, मिअंककलंकणिगालिदं व, कुवलअवणपरिकप्पिडं व, करिकरट-  
डदाणप्पवट्टिदं व, तिमिरचकवालं अणभिण्णादसमधिसमं अणिधिद-  
सामधवलं, अपरिच्छिण्णलहुदीदं अणधिगददिअहरत्तिमाअं अ भुवण  
गठ्ठंमाअं करेइ । ( मोः, मम कण्ठस्थानितरागिन्तंमनिवेशितरादमुदं सञ्चर ।  
यतो बहलालिकुलनिर्मितमिव तैलमज्जितकज्जलपुञ्जसंजितमिव इन्द्रनीचूर्ण-  
संभूतमिव सिदिकण्ठकण्ठसमुत्थितमिव नारायणतनुविनिर्गतमिव, मृगाङ्ककलङ्कनिर्ग-

( देवी क्रोध का अभिनय करतां परिचय समेत चली गई )

विदूषक—( बगल की ओर देखकर ) मोः ( अरे ) हम अब एकान्त में  
( जहाँ एक मक्खन तक भी न हो ) मधु पियेंगे ।

राजा—देवी अत्यन्त क्रुद्ध हैं—क्योंकि रोती हुई गई हैं ।

विदूषक—रोयें और रोयें । क्या इनके मोती गन्ध बाँधेंगे ! तो प्रियमित्र  
उद्यान की ओर आवें ।

अरे ! मेरे गले में हाथ डालकर घीमे-घामे सँभालकर पैर रखते हुए चञ्चो  
क्योंकि अन्धकार इतना बढ़ गया है कि मानो अशुभ्य भारी के समुदाय से  
इसका निमांग हुआ है अथवा तेल से मुने काज्जल-पुञ्ज से उत्पन्न हुआ है,  
अथवा चमकते मरकत मणियों के चूर्ण से प्रकट हुआ है अथवा शिवजी के  
कण्ठ से उत्पन्न हुआ है, अथवा विष्णु भगवान के शरीर से निकला हुआ है

लितमिव, कुबलयवनवरिकलितमिव, करिकरटवट्टदानप्रवर्तितमिव तिमिरचक्रवालम्  
अनभिज्ञातसमविषमम् अनिश्चितशामधवलम् अरिच्छिन्नलघुदीर्घम् अनधिगत-  
दिवसरात्रिमागञ्ज भुवनगर्भाङ्गनं करोति । )

राजा—एवमेतत् ।

तनु लम्बा इव वक्रुभः षमाचलयं चरणचारमात्रमिव  
वियदपि चालिकदहनं मुष्टिमाद्यं तमः कुरुते ॥ ६ ॥

( विद्वित्तर्कयामि )

उत्तंसः केकिपिच्छैर्मरकतबलयश्यामले दोःश्रकाण्डे  
हारः सान्द्रेन्द्रनीलैर्मृगमदरचितो यन्त्रपत्रप्रपञ्चः ।  
नोलब्धैः शैलरश्रीरसितवसनता चेत्यभीकाभिसारे  
संप्रत्येषेक्षणाना तिमिरभरसखी वर्तते वेप-रेखा ॥ ७ ॥

अथवा चन्द्रमा के बलद्ध से विचल कर प्रवाहित हुआ है, अथवा नं.ले वसल-  
वन से रचा गया है अथवा हाथियों के गण्डस्थल के बड़े मदबल से बनाया  
गया है । इस अन्वकार से मंसार का ध्वान्तरिक भाग इतनी बुरी तरह आच्छा-  
दित है कि नम एव विषम भूमि का ज्ञान नहीं हो रहा है, काले आंर श्वेत  
का निश्चय नहीं हो पा रहा है, छोटे आंर बड़े में भेद नहीं मालूम पड़ रहा  
है आंर दिन है या रात इसका पता नहीं चलता ।

राजा—मर्दा है, ऐसा ही है ।

अन्वकार ने दिशाओं को शरीर से लगा दिया है ( दिशाओं का ज्ञान  
नहीं होता, मान्दम होता है कि सिमित कर वे शरीर के पास हो आ गई हैं । )  
इसमें मकार पृथ्वं मण्डल को एक पग भर का सा कर दिया है । आकाश को  
भी मुट्टों से ग्रहण करने योग्य ( अत्यन्त लघु ) बना दिया है ॥ ६ ॥

निर्मयतापूर्वक अभिसार की इस वेप में मरूर की पूँछों का कर्णमूल,  
मरुतमणि के कर्कषों से दशमल मुञ्ज-टण्ड, गहरे रंग के इन्द्रनील मणियों का  
हार, बल्लूरी के रम से लिप्त मुत्र मण्डल, शिर पर नीलमलों की धारण की गई  
माला, नीले दन्त्र का धारण करना आदि—मृगनयनियों की यह वेप-रचना मानो  
प्रगाढ़ तिमिर की सखी ( प्रिया ) है—उसके अत्यन्त अनुकूल है ॥ ७ ॥

( नेपथ्ये )

कट्टिददुद्धमुद्धकरतरलिअजलगिहिसलिलसंचओ  
तिहुवणभयणविच्छुरणच्छसुइारसधवलकुच्चओ ।  
चंदो मअगवल्लिपल्लवगमहो सहि सरिसजोहओ  
पूर्वदिशामुहम्मि उम्मिलड चन्दणपङ्ककलिलोव्य ललिओ ॥८॥  
( क्वथितदुग्धमुग्धकृत्तरलितञ्जलनिधिसलिलसञ्चय  
त्रिभुवनभवनविच्छुरणाच्छमुवारसधवलकूर्चकः ।  
चन्द्रो मदनवल्लीपल्लवनमहो सखि सटशशोत्सः  
पूर्वदिशामुखे उन्मालति चन्दनपङ्ककलिल इव ललितः ॥ ८ ॥ )

अपि च

जगाणंदो चंदो लसइ मलिगीहोइ णलिगी  
विसप्पन्ते तारा रअणिमिग्गिहाग दिसि दिसि ।  
रहंगा तत्तंगा विरहसिहिणा दद्धविदिना  
इमे दुक्खक्कंता ससिक्करकिलंता विह्विदिता ॥ ९ ॥  
( जनानन्दश्चन्द्रो लपति मञ्जिन भवति मलिनी  
विसर्पन्ति तारा रञ्जनीश्रीहारा दिशि दिशि ।  
रथाङ्गास्तताङ्गा विरहशक्तिना दग्धविधिना  
इम दुःखाक्रान्ताः शशिस्रक्लान्ता विधत्ताः ॥ ९ ॥ )

( नेपथ्ये )

कुछ कुछ बिलोये हुए दूध की भाँति स्वच्छ करो ( किरणों, हाथों ) से  
समुद्र की जल-राशि को चंचल कर देने वाला, त्रिभुवन भवन को पोतने के लिए  
स्वच्छ सुधारस ( अमृत, चूने का घोल ) का द्रोत कूँची वाला, कामलता को  
पल्लवित करने वाला, ज्योत्स्ना को साथी सा बनाए हुए, पूर्वदिशा के मुख पर  
चन्दन-रस की राशि सा ललित चन्द्रमा उदित हो रहा है ॥ ८ ॥

और भी

लोगों को आनन्द देने वाला चन्द्रमा शोभायमान है, कमलिनी मलिन हो  
रही है, रञ्जनी के शृङ्गारार्थ मुक्तामाला रूप तारा-गग प्रत्येक दिशा में बहुत  
धरे धरे चञ्च ( हिल ) रहे हैं । दुर्देववश विपुक्त, विरहान्नि से तप्त शरीर,  
दुःखक्रान्त से क्रान्त पत्नी चन्द्रमा के किरणों ( हाथों ) द्वारा स्पर्श  
हो रहे हैं ॥ ९ ॥

( पुनर्नेरूप्ये )

ये पूर्वं यवनृचिन्मृदुहृदो ये क्वैतकामच्छद-  
च्छायासाम्यभूतो मृगाललतिकालावप्यभाजोऽव ये ।

य धाराम्बुदितान्विनः क्षणमयो ये तारहारश्रिय-  
स्तेऽमी स्फार्तिवदण्डदन्वरजितो जाताः सुघोशोः कराः ॥ १० ॥

अपि च

सद्यदचन्दनपङ्कपिच्छिमिव व्योमाङ्गणं कल्पयन्  
पदर्यावत्कालन्दन्तमुसलच्छेदोपनेवाकृतिः ।

उद्रच्छान्यमच्छर्माक्तिकलनाप्राञ्जलन्दः करैः

कान्तानां न्मरलेखवाचनकलाकेलिप्रदीपः शशी ॥ ११ ॥

विदू०—एसा कलत्रट्टी नाम देवीए णट्टाअरिणो, ताए वअग्गादो  
सुणिअ चंदोदयहोआवली कम्पूरचंडणामघेयो देवत्य नागघो अहिपं-  
देदि मिअंकुजोवलच्छि वणिग्गुं, ता नम विच्छुरदि तुंडवंदूः अहं पि  
वणिग्गस्तं ससिगोलआहिग्गालिदो जोग्गहापडिआरत्तो समीकुग्गइ  
णक्खत्तखरवलअं णइ-फलए तिमिर-कज्जलए । ( एसा इण्णट्टी नाम  
देव्या नाय्यकारिणां, तस्सा वदनाच्छूता चन्द्रोडपमोगावलिं कम्पूरचण्डनान-

( पुनः नेरूप्ये )

चन्द्रना कां किरणों लों पहिले पेटकी के किरण के समान हीन्दुय धारण  
करने लगीं, कुछ ही देर बाद पक्षत्रा के लक्षण को प्राप्त हो गईं । पुनः बड-  
प्रवाह कां शोभा का अनुकरण करने लगीं । धन भर ने शोभा मुकादार कालों  
हो गईं, अथ वे बढ़ते २ स्ततिक मणि से निर्मित टण्ट की शोभा को मात बाने  
लगीं ॥ १० ॥

और भी

तत्काल आकाश मण्डल को चन्दन-पङ्क से चिकना एवं चिल्लन वाला  
बनाता, वद्योभूत ऐशवत के स्पूल टाँतों के मण्ड सा, प्रमियों के काम-धर को  
पड़ने के लिए कामदेव द्वारा अर्पित टोपक-सा चन्द्रना मोती की लड़ा के समान  
लम्बी किरणों सरित उदित हो रहा है ॥ ११ ॥

विदूषक—यह ! बलकण्ठी नामक, महारानी कां नाय्यकारिणी के मुख से

## तृतीयोऽङ्कः

बेयो देवस्य मागयोऽभिनन्दति मृगाङ्कोद्योतलक्ष्मीं वर्णयितुम् । तस्मान्मम विच्छु-  
रति त्रुण्डकण्डूः अहमपि वर्णयिष्यामि । शशिशूलकाभिगलितो ज्योत्स्नाघटिका  
रसः समीकुरते नक्षत्राक्षरबलयं नमःफलके तिमिरकप्रलये । )

राजा—सखे ! नाद्यापि शैशवोक्तेरानिश्चयसे ।

विदू०—किं विध मङ्गडो वरिद्वानं करणजं पृच्छइ । समुत्तीहि  
वण्णइस्सं । ( किमिव मर्कटो वरिष्ठानां करणायं पृच्छति । तरुणोक्तिभिर्गण-  
यिष्यामि । )

अकंकणमकुण्डलं धरणिमण्डलीभूषणं

अकुङ्कुममचन्दनं दशदिशावधूमण्डनम् ।

असोषणममोहनं मकरलञ्छनस्यायुधं

मिअंककिरणावली णहत्थलाग्म लक्खीअदि ॥ १२ ॥

( अकङ्कणमकुण्डलं धरणिमण्डलीभूषणं

अकुङ्कुममचन्दनं दशदिशावधूमण्डनम् ।

अशोषणममोहनं मकरलञ्छनस्यायुधं

मृगाङ्ककिरणावली नमस्तले लक्ष्यते ॥ १२ ॥ )

चन्द्रोदय वर्णन सुनकर कर्पूरचण्ड नामक महाराज का मागध चन्द्रोद्योत के  
वर्णन का अभिनन्दन कर रहा है । इसलिए मेरे मुख में स्तुजलाहट हो रहा है,  
मैं भी वर्णन करूँगा । चन्द्र-मण्डल से निहली हुई ज्योत्स्ना रूपी गगरी का रस  
अन्यकार से काले आकाश पट्ट पर नक्षत्रों की वर्णमात्रा बना रहा है ।

राजा—मित्र ! बचपन में बैसी रचना किया करते थे, उनसे आगे अब भी  
नहीं बढ़ पाए हो ।

विदूषक—क्या बन्दर बड़ों से, क्या करना है ? यह पृच्छता है । अच्छा,  
सुनावस्था की उक्तिचों से वर्णन करूँगा ।

विना कङ्कण और कुण्डल के ही पृथ्वी-मण्डल को दृशोमित बनाने वाली,  
विना कुङ्कुम और चन्दन के ही दशो दिशाओं को सजाने वाली, विना शोषण  
और मोहन के भी कामदेव का अस्त्र-भूत ये चन्द्र-किरणें आकाश-मण्डल में  
दिखाई पड़ने लगीं ॥ १२ ॥

राजा—( समजादकशेकर मडनाकृतमभिर्नच ) भगवन् यामिनीनाथ !  
चन्तवायं विरहो विधिः ?

मूर्तिर्दुग्धसमुद्रतो भगवतः श्रीकौस्तुभां सोदरी

सँहादं कुमुदाकरेषु किरणाः पीयूषधाराकिरः ।

स्पर्शा ते वदनाम्बुजैर्मृगदृशां तत् स्थाणुचूडामणे !

दँहो चन्द्र ! कथं निपिच्छसि मयि ज्वालासुचो वेदनाः ॥१३॥

( चतुर्दिशमवशोक्य )

यन्त्रद्राविनफैतकोदरदलस्रोतःश्रियं विभ्रवी

येयं मौक्तिकदामगुम्फनविचेर्योग्याच्छविर्द्रांगभूत् ।

उन्सेक्या चलसीनिरल्लुपुटैर्माह्या मृगाळाङ्कुरैः

पातव्या च शशिन्यमुग्धपिभवे सा चन्द्रिका वर्तते ॥ १४ ॥

( विनाथ ) वैमल्यमेव वा शशलङ्गमणो मादृशजने प्राणसन्देहहेतुः ।

वैपम्यमेव वा विषं विषयस्य ।

राजा—( चारों ओर देखकर, कामावेश प्रकट कर ) भगवन् यामिनी-नाथ !  
तुम्हारा यह कैसा विरह कायं है !

क्षीर सागर से आपका जन्म हुआ है, लक्ष्मी और कौस्तुभ तुम्हारे लगे  
शहिन और भाई हैं, कुमुद-चन्द्र से आपकी मँबी है, किरणें अनृत बरसाने वाली  
हैं एवं मृगनपनियों के मुख-कमलों से तुम्हारी स्पर्शा है हे शिव जी के  
चूडामणि चन्द्र ! तो फिर क्यों मुझे संतापकारी वेदना देते हो ॥ १३ ॥

( चारों ओर देखकर )

नियम से पिरलाये हुए चेतक के भीतरी पत्ते के डलप्रवाह की शोभा  
धारण करता हूँ जो चँदनी शीम ही मौक्तियों की मात्रा में रूँयने योग्य सुन्दर  
छवि वाली हो गई थी, वह चँदनी चन्द्रमा के ओर अधिक बढ़ जाने पर गगनी  
से छिड़कने योग्य, अञ्जलिपुटों से ग्रहण करने योग्य और कमल के पत्तों से पँने  
योग्य हो गई ॥ १४ ॥

( सोचकर ) चन्द्रमा की विमलता ही मेरे प्राण-सन्देह का कारण है। विषम  
की विषमता ही विष है ।

( चतुर्दशमवलोक्य सान्पर्यनम् )

अयि पिबत चकोराः कृत्स्नमुन्नाम्य कण्ठान्  
क्रमकवलन चञ्चच्चञ्चवश्चन्द्रिकाम्भः ।

विरहविधुरितानां जीवितत्राणहेतो-  
र्भवति हरिणलक्ष्मा येन तेजोदरिद्रः ॥ १५ ॥

( पुरोऽवलोक्य ) सैवेयं मृगाङ्कावली

विदू०—भो मिअंकावली जंव एसा । ण हु एकचन्द्रस एत्तिअमेत्तो  
कंतिवित्तारो । ( भो मृगाङ्कावल्पेवैया । न खल्वेकस्य चन्द्रस्य एतावन्मात्रः  
शान्ति-विस्तारः । )

राजा—ततः कदलीलतान्तरितावेव शृणुवन्तावदस्या विश्रम्भजल्पि-  
तानि । आवृप्ति पिबेतां श्रवसी रमायनम् । ( तथा कुरुतः । )

( ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा मृगाङ्कावली विचक्षणा च )

मृगाङ्कावली—( अनुध्याननायितकेन तदेव “चन्द्रं चन्दनकर्दमेन लिखि-  
तमि”त्यादि पठति । )

( चारों ओर देखकर लज्जकारते हुए )

विरहिजनों के जंवन-रक्षा के हेतु, अरे चकोरो ! तुम कण्ठ को ऊँचा कर,  
क्रम से निगलने के लिए चोर्चों को फैशकर चन्द्र-किरणों को सम्पूर्णतः पी लो  
बिससे यह चन्द्रमा तेजहीन हो जाय ॥ १५ ॥

( सामने देखकर ) अरे यह तो मृगाङ्कावली आ गई ।

विदूषक—हाँ, यह मृगाङ्क = चन्द्रमा + अवली = पक्ति, चन्द्रों का समूह )  
ही है । अकेले एक चन्द्रमा में इतनी चमक नहीं हो सकती ।

राजा—तो कदल कुञ्ज में छिपकर हम तुम इतनी प्रेमविषयक वार्ता सुनें,  
कर्मरसायन गियें ।

( वैसा करते हैं )

( इसके बाद यथानिर्दिष्ट मृगाङ्कावली और विचक्षणा रंगमञ्च पर आती हैं )

मृगाङ्कावली—( स्मरण का अभिनय कर ) वही ‘चन्द्रं चन्दनकर्दमेन  
लिखितम्’ इत्यादि श्लोक पढ़ती है ।

राजा—( सखेदम् ) अहो मदनमन्त्राक्षराणि सुभाषितवचनान्यस्याः ।  
विदू०—अहं एव जाणे णिसिद्धान्थो मञ्जुहृत्थमल्लीगो । ( अहं  
पुनर्जाणे निश्चिता मदनहस्तमल्लयः । )

राजा—

कण्ठे मौक्तिकमालिकाः स्तनतटे कापूरमच्छं रजः

सान्द्रं चन्दनमङ्गुष्ठे वलयिताः पाणौ मृणालीलताः ।

सन्धौ नक्तमियं चक्रारितं शुचिनी चीनांशुके विभ्रती

शीतांशोराधिदेवतेषु गलिता व्योनाप्रमारोहतः ॥ १६ ॥

विदू०—भो सखं चन्द्राधिदेवतेषु सा गलिता । जसो लङ्गणछलेण  
मभलङ्गणस्य इमाए अडरपरिच्यतमिगालदलमलिनं व मङ्गलमञ्जं निज्झा-  
अदि । ( भोः सत्य चन्द्राधिदेवतेषु सा गलिता । यतो लङ्गणछलेण मृगण-  
छनस्य अनया अचिरपरित्यक्तं मृणालदलमलिनमिव मङ्गलमञ्जं निधायते । )

राजा—सखे ! मासलेऽपि चन्द्रिकायांते व्यतिरिच्यत एवास्याः  
स्मरजन्मा पाण्डिमा । विभावयत एव वा शङ्खशुक्तियुक्ताऽपि मुक्तावली ।

राजा—( खेदपूर्वक ) इसके सुभाषित वचन काममन्त्र हैं ।

विदूषक—मैं तो समझता हूँ कि कामदेव के हाथ के चोखे किए गए  
माले हैं ।

राजा—कण्ठ में मोतियों की मालायें, स्तनों के चारों ओर किनारे किनारे  
कपूर का उज्ज्वल लेप, शरीर पर चन्दन का गाढ़ा लेप, दोनों हाथों में लिपथे  
हुई कमल लता, उत्तम रेशमी बन्नों को धारण किए हुए यह सुन्दरी, रात में,  
नमो-मण्डल में ऊपर चढ़ते हुए चन्द्रमा से निकली अपिष्ठाधी देवी सी बमक  
रही है ॥ १६ ॥

विदूषक—हाँ, सचमुच चन्द्रमण्डल से पृथक् हुई यह अधिदेवता हाँ है  
क्योंकि इसके द्वारा परित्यक्त चन्द्रमण्डल का मध्य भाग कमलदल या मलिन,  
बलद्व के रूप में दिखाई दे रहा है ।

राजा—मित्र ! चन्द्रिका के इन सुन्द प्रकाश में भी क्लम-जन्म इसका  
पीलापन स्पष्ट भिन्न दिखाई दे रहा है । शंख की सोपियों से युक्त मुक्तावली  
पहचान ही जाती है—उसकी कान्ति अलग प्रकट रहती है ।



तथाहि—

नखदलितहरिद्राप्रन्यिगौरे शरीरे  
स्फुरितविरहजन्मा कोऽप्ययं पाण्डुभावः ।  
वलयति सति यस्मिन् सार्धभावचर्य हेम्ना  
रजतमिव कृशाङ्ग्याः कल्पितान्यङ्गकानि ॥ १७ ॥

विदू०—पारअरसचुंविअं विअ सुवर्णं से लावण्यं । कम्मकंतगोर-  
त्तणेग आकिट्टं विअ अंगं आपांडुभावेण । ( पारअरसचुम्भितमिव सुवर्णमस्या  
लावण्यम् । कम्मकान्तगौरत्वेन आकृष्टमिवाङ्गमापाण्डुभावेन । )

मृगाङ्गावली—हंहो हिअअ, णअणेहिं दिट्ठो सो, तुमं उत्तम्मसि त्ति  
अञ्जरिअं । मूले वउलवट्टीए सुरागंडूमसेओ कुमुमेसु मइरागंधुगारो-  
स्सि । ( हंहो हृदय, नयनाभ्यां दृष्टः सः, त्वम् उत्तम्यसंत्वाश्चर्यम् । मूले वकु-  
ल्यश्र्याः सुरागण्डूपतेकः, कुमुमेषु नदिरागन्धोद्गार इति । )

विदू०—किं वा कारणम् ?

राजा—( सक्रवणम् ) इदं हि कारणं, वलवाननङ्गोऽस्याम् । इयं हि  
स्वेन हृदयेन कलहायते ।

जैसे—नखों से काटी हुई हल्दी की गाँठ के समान गोरे शरीर पर विरह-  
जन्य पीतिमा का रंग प्रकर्ष को प्राप्त हो रहा है । मानो इस सुन्दरी के अङ्ग,  
मोने के माथ चोंचों को मथकर—एक में मिलाकर—( उसके ) मिश्रण से  
रचे गए हैं ॥ १७ ॥

विदूषक—इसका सौन्दर्य पारा-रस-मिश्रित सुवर्ण सा है । सुन्दर और गौर  
होने से अल्प पीलेपन ने इसके अङ्ग को आकृष्ट सा कर लिया है ।

मृगाङ्गावली—अरे हृदय ! उसे देखा तो नेत्रों ने और विकल्प हो रहे हो  
नुन—यह आश्चर्य है । शराव से तो सींचा जाय मौलविरा का मूल और मदिय  
की उग्र गन्ध आये फूँचों में ।

विदूषक—क्या बात है ?

राजा—( कवणापूर्वक ) बात यह है—इसमें काम प्रबल हो रहा है । यह  
धरने हृदय से ही कलह कर रही है ।

मृगाङ्गावली—अइ कापूरसलाआसिसिरविज्जाहरमल्ल ! तुमं पि तपास ? कहिं मे णिवुदि । जइ चन्द्रमणो हुअवहं णीसंदअदि को एत्य पढीआरो । ( अग्नि, कपूरसलाकार्तलविद्याधरमल्ल ! त्वमग्नि तपासि ! क्व मे निर्हृतिः ! यदि चन्द्रमणिर्हुतवहं निष्यन्दयते, कोऽत्र प्रतीकारः । )

राजा—नमो मह्यं मृगाङ्गावलाचनुरोपालम्भपात्रीकृताय ।

मृगाङ्गावली—सहि ! सामण्णकुट्टुनयागो भाविअ मअणो एआरिसं करेदि ? ता बहूत्ते विसेमहुत्तुममआ बाणा । ( सखि ! जानान्दहुत्तुनयागो भूत्वा मदनः कथमेतादृशं करोति ? तस्माद्दृष्टोऽस्य विशेषकुट्टुनमया बाणाः । )

राजा—सल्लमप्यपि दहति हिमानी । कुत्तुममप्यपि स्वभाववाना मदनहस्तपञ्चशरी ।

विदू०—भो पिअवअम्म, वरिमारत्तिसक्करपुत्तलिआ विअ खणेदणे ओअरन्ती कं ण तुण्णेदि, किं एज मिलाणमरुवककंदलीय सुअंधा-वग्गह पारिक्खामा वि इयं ममणिस्या । किं अ कोरएटकुत्तुममालांमिलाअमाना सुट्ठु वत्तु रक्तत्तणं दंसेदि । ( भोः प्रियवयस्य, वर्यापत्रियार्कंरापुत्तलिकेव छणे छणे अर्पयमाना कं न दुनोति । किं पुनर्लानमरुवककन्दलीय सुगन्धिः विरह-

मृगाङ्गावली—हे कपूर की शक्ता की भाँति यह तब विद्याधरमल्ल ! तुम भी संताप ( दुःख, तान ) दे रहे हो तो मुझे चरों चैन मिलेगा ! यदि चन्द्रमा ही अग्नि बरताने लगा तो फिर इच्छा क्या इच्छाब ।

राजा—मृगाङ्गावली के चातुर्पूर्ण उपात्मम के पात्र मुझे नमस्कार है ।  
( मैं धन्य हो गया । )

मृगाङ्गावली—सखि ! यदि कामदेव के बाण साधारण फूलों के हैं, तो फिर वह इतना दुःखद दुःख क्यों देता है ? अबदर रचके बाण विशेष प्रकार के फूलों के हैं ।

राजा—जल से बना वर्ष बरताता है । कामदेव के हाथ में फूलों के बने बाण स्वभाव के प्रतिदूत होते हैं अर्थात् कठोर होते हैं ।

विदूषक—प्रिय मित्र ! ओले की भाँति प्रतिक्षण घटती हुई चरों की रात किसकी पीड़ित नहीं करती ? मरुवक ( दीना ) की नरें कोरक सुरहायो हुई भी

परिक्षामाऽशयं रमणीया । किं च कोरुण्डकुसुममाला म्लायन्ती सुन्दु खलु रक्तत्वं दर्शयति । )

मृगाङ्गावली—किं करेदि सहि ! दुःखभेजा प्पेमदुहोली । ( सखेदम् )  
सहि ! गिरणुक्कोसो क्खु सो, विरलो वा परदुक्खदुक्खिदो जणो,  
त्योआ वा पंचमहुंकारोन्मुक्ककुसुमुप्पीडविडविणो । ( सप्रथयम् )  
अयि तुहिअणेक्कधानुक्क मम्मह ! मिअंकचूडामणिपरिक्खिदत्तक्खत्तणेहिं  
सरेहिं महिलाअणं पहरन्तो ण लज्जसि ? जाणामि जदि तस्सिं पि अणे  
एव्वं एव्व आरभडोपचंडो होसि । ( किं करोमि सखि, दुःखेया प्रेमदुदोली ।  
सखि ! निरनुकोशः खलु सः विरलो वा परदुःखदुःखितो जनः, स्तोका वा  
पञ्चमहुङ्कारोन्मुक्ककुसुमोत्पीडविद्यपिनः । अयि त्रिभुवनैकधानुक्क, मन्मथ,  
मृगाङ्गचूडामणिपरीक्षिततीक्ष्णत्वैः शरैर्महिलाजनं प्रहरन्न लज्जसे । जानामि  
पदि तस्मिन्नपि जन एवमेवारभटप्रचण्डो भवसि । )

राजा—सुतनु, सुतरामारभटीप्रपञ्चः ।

विदू०—( उच्चैर्हसित्वा ) अणंगत्स आरभडित्ति महाहासकरं मे ।  
( अनङ्गत्यारमटीतिमहाहासकरं मे । )

सुगन्धित रहती है और कोरुण्ड का कुसुममाला मुरझायी हुई भी अपनी लाली प्रकट करता है ।

मृगाङ्गावली—क्या कहें सखि ! प्रेम की दुदोली दुःखेय होती है । ( सखेद )  
सखि ! वे बहुत ही निष्करण हैं । दूसरे के दुःख से दुःखी होने वाला कोई  
विरला ही होता है । ऐसे वृक्ष थोड़े ही होते हैं जिनके पुष्प कोयल द्वारा  
दालत होने से बच जाय । त्रिभुवन में सबसे बड़े धनुर्धारी कामदेव ! अपने  
बाणों का तीक्ष्णता की आजमाइश शंकर जी पर तो कर ही चुके थे, अब ऐसे  
तीक्ष्ण बाणों का प्रहार एक अबला पर करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती ! तुझे  
समझें तब, जब इसी प्रकार साहस और बहादुरी से उस ( विद्याधरमल्ल ) पर  
भी प्रचण्ड होते ।

राजा—सुन्दरि ! ( कामदेव के ) अत्यधिक साहस हैं ।

विदूषक—( जोर से हँसकर ) अनङ्ग ( जिसके शरीर ही नहीं ) का  
साहस ! इस पर मुझे बड़ी हँसी आती है ।

६ वि०

राजा—किमिदं यदुच्येहैतस्मिन्, नैवं त्रासय ।

नृगाङ्गावली—विभक्तपणे ! जणसञ्चारो विभ । ता कदलीयंभन्त-  
रिदे भविअ जाणीमो किं एदं ति । [ तथा कुर्वतः ] ( विचक्षणो ! जन-  
सञ्चार इव, तस्मात् कदलीस्तम्भान्तरिते नृत्वा शास्त्रावः किमेतदिति । )

विदू०—एहि पविमस्य [ इति परिक्रामितकेन ] ( एहि प्रविशतः । )

राजा—( शिशिरोपचारसामग्रीमालोक्य नाट्येनादाय च )

मृणालमेतद्वलयोद्धृतं तथा तदीय एकोऽप्यवतंसपल्लवः ।

इदं च तस्याः कदलीदलांशुकं यदत्र संक्रान्त इव स्मरञ्जरः ॥ १८ ॥

तदनया तदुपभुक्तमुक्त्या शीतवर्गसामप्रथात्मानं निर्वापयामि ।

( तथा करोत्युपविशति च । विदूषकोऽपि यथोचितमुपविशति । )

राजा—( संतापमभिनीय ) अहह अपर्यालोचितमाचरितम् । यतः—

राजा—यह क्या, जोर से हैंसते हो, इस प्रकार उठे मरगो मत ।

नृगाङ्गावली—विचक्षणो ! यहाँ मनुष्य को आइट मादम होता है । जो  
केले के खम्भे की आड़ में छिपकर शात करें—क्या बात है । ( दोनों देखा  
करती हैं )

विदूषक—आओ अन्दर घुने । ( दोनों घूमते हैं । )

राजा—( शीतलता प्रदान करने वाली सामग्रियों को देखकर अभिनय-  
पूर्वक लेकर )

यह कमल-नाल है जिसे उठने लपेटा था, यह पल्लव है जिसका उठने  
वर्गभूषण बनाया था । यह कदली-पत्र का ( सबसे नीचे पहना गना ) पल्लव है  
जो गर्म है, इसलिए मादम होता है उस मुन्दरी का काम-ञ्जर अङ्ग-रस से  
इसमें सहमान्त हो गया है ॥ १८ ॥

तो उसके द्वारा उपयोग करके छोड़ी हुई शीतलता प्रदान करने वाली  
सामग्री से अपने को पुररहित करें—मैं इसे उपयोग में लाऊँ । ( देखा करता  
है और बैठता है, विदूषक भी उचित स्थान पर बैठ जाता है )

राजा—( संताप का अभिनय कर ) अहह ! मैंने बिना सोचे-समझे शीतल  
सामग्रियों को धारण किया । क्योंकि—

शीतांशुर्विपसोदरः फणमृतां लालास्पदं चन्दनं  
हारः क्षारपयोभवः प्रियसुहृत् पङ्केरुहं भास्यतः ।  
इत्येपां किमिवास्तु वस्तु मदनज्योतिर्विधाताय यद्  
वाह्याकारपरिग्रहेण तु वयं तत्त्वत्यजो वञ्चिताः ॥ १९ ॥

विचक्षणा—सहि मित्रंकावलि ! फलिदं मे दूहत्तणेण । जं महाराओ  
वि एआरिसं अवस्थन्तरं उव्वहदि । ( सखि मृगाङ्कावलि ! फलितं मे दूर्तीत्वेन  
यन्महाराओऽपि एतादृशमवस्थान्तरमुद्रहति । )

राजा—( सन्तापमभिनीय )

व्यजनमरुतः श्वासश्रेणीर्ममामुपचिन्वते  
मलयजरजो धारावाप्यं प्रपञ्चयितुं प्रभुः ।  
कुसुमशयनं कामास्त्राणां करोति सहायतां  
द्विगुणगरिमा भारोन्माथः कथं नु विरंस्यति ॥ २० ॥

विदू०—अए, मुद्रासणाहो लेहो विअ । ( अए, मुद्रासनायो लेख इय । )

राजा—न केवलं लेखः, स्मरसन्धिविग्रहसम्बन्धश्च । तथाहि पश्य—

चन्द्रमा तो विप का सहोदर है, चन्दन सपों के लार ( थूक ) का आवास  
स्थान है, ( मोतियों का ) हार खारे जल से उत्पन्न हुआ है, कमल सूर्यका  
मित्र है, ( तो फिर ये सब संताप-नाश कैसे करें ) । हम मदन-सताप को नष्ट  
करने के लिए इन्हें धारण कर वास्तव में तत्व से अनभिज्ञ घोखा खा गये ॥ १९ ॥

विचक्षणा—सखि ! मृगाङ्कावलि ! मेरा दूर्ती-कार्य सफल हो गया, महाराज  
भी ऐसी अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं ।

राजा—( सन्ताप का अभिनय कर ) पंखे की वायु श्वासों को और  
बढ़ाती है, चन्दन का लेप आँसुओं की ओर वृद्धि करता है । फूलों की शय्या  
कामदेव के अस्त्रों का सहायता करती है । इस प्रकार तो काम-पीडा दूनी होती  
जा रही है, वह शान्त क्यों कर होगी ॥ २० ॥

विदूषक—अरे ! मुहर लगा हुआ लेख सा ( यहाँ ) है ।

राजा—केवल लेख ही नहीं, कामदेव के तन्धिविग्रहका सम्बन्ध है ।  
देखो—

तालीदलं यदकठोरतरं यदत्र  
मुद्रास्तनाङ्घ्रयनचन्दनपङ्कमूर्तिः ।  
यद् धन्यनं विसलतातनुवन्तुभिश्च  
कस्यादिचदेप गलितस्तदनङ्गलेभ्यः ॥ २१ ॥

विदू०—ता एवमं एसो, सण्णिहिदपरिच्चाए कारणं भणिद्वयं ।  
( तस्मादेवमेव, तन्निहितपरित्यागे कारणं भणितव्यं ! )

राजा—( विदूषकं कण्ठेऽप्यार्य ) विदूरचसुधैव रत्नशालाकामूः मयद्वयो-  
वृत्तिरेव रसनिप्यन्दभूमिः, तदुपरि नाम दर्शय ।  
( विदूषकः तथा करोति । )

राजा—( वाचयति ) निष्कृपस्य, यराक्याः ।

विदू०—उन्मुद्रिअ दंसइरसं । ( तथा कृत्वा ) भो, अरअणं रअणकरं-  
दअं, अगअररो लेहो । ( उन्मुद्रय दर्शयिष्यामि । भो, अरत्नं रत्नकरण्डकम्,  
अनशरो लेखः । )

राजा—कामं कण्ठगन्भीरः प्रयोगः फल्लोलयति मानसम् ।

यह अत्यन्त कोमल ताली-पत्र है, स्तनों में लगे चन्दनरस की इस पर  
मुद्रा ( मुद्रा ) लगी है । यह कोमल कमल-तनुओं से ढँपा है । इससे स्पष्ट है  
कि यह किसी ( नायिका ) का काम-पत्र गिर गया है ॥ २१ ॥

विदूषक—हाँ है तो ऐसा ही, मर्जी तमोर में ही इसके गियाने का कारण  
कहिए ।

राजा—( विदूषक के गले में बाँह डालकर ) विदूर ( पदंत ) की भूमि  
में ही रत्न पैदा होता है, तुम्हारी झर्तों से ही रत्न-पाषाण प्रकाशित होती है । लो  
करना नाम ( पता ) तो दिखाओ ।

( विदूषक बैठा करता है )

राजा—बाँचता है—अभागिनी के उस निन्दुर को—

विदूषक—खोसकर थिलाऊँ ( बैसा करके ) अरे ! रत्नों की सन्दूक  
रत्नरत्न्य है । पत्र, बिना अशरों का है ।

राजा—यह करण और गम्भीर प्रयोग हृदय को अत्यन्त तरंगित कर

( विचिन्त्य ) अये, तालीदलसंपुटम् अन्विष्य, किञ्चिन्मन्त्रगुप्तये, तत्र शङ्कमानया सूचितं स्यात् ।

विदू०—( तथा कृत्वाऽवलोक्य सहर्षम् ) अहो दे बुद्धिविहवो । किं गगं मिअङ्कलंछगस्स रोहिणीवल्लहोत्ति । ( अहो ते बुद्धिविभवः । किं वर्णनं आच्छन्त्य रोहिणीवल्लम इति । )

राजा—विसंप्लुलं वाचयति—

विद्यते सोल्लेखं कतरदिह नाङ्गं तरुणिमा  
तथापि प्रागल्भ्यं किमपि चतुरं लोचनयुगे ।  
यदादत्ते दृश्यादखिलमपि भावव्यतिकरम्

( विचिन्त्य )

पाणिप्रेङ्खगतो विशीर्णाशिरसः स्वेदान्बुद्ध्युग्गाग्निव-  
स्ता इत्याकृतिलेशतो मनसि नः किञ्चिन्नतीति गताः ।

गद्ग है । ( सोचकर ) अये ! ताली-पत्र का संपुट ( लिहाफा ) लो खोजो । सम्भव है उसमें शंकाहृदय वाली के द्वारा कोई रहस्य सूचित किया गया हो ।

विदूषक—( बैठा करके, देखकर सहर्ष ) अहो ! तुम्हारी बुद्धि कैसी विलक्षण है । मृगआच्छन्न ( चन्द्रमा ) का क्या वर्णन—बढ़ तो रोहिणिवल्लम है ।

राजा—( चंचलतापूर्वक पढ़ता है )

यौवन किस अङ्क को विशेष सुन्दर नहीं कर देता अर्थात् सभी अंगों को सुन्दर कर देता है । तयारि यौवन नेत्रों में एक विशेष प्रकार का नैपुण्य एवं मंगलमत्ता उत्पन्न कर देता है । इसी ने वे किसी को फेदल देखकर ही उसके हृदय समस्त भावों को जान लेते हैं ।

( सोचकर )

लेख की अक्षर-शक्तियों का शिरो-भाग हाथ कौनने के कारण विरगि हो गया है—विगड़ गया है, पसिने की बूँदों से उनका सौन्दर्य नष्ट हो गया है—इस प्रकार अक्षरों का आकार विगड़ जाने से वे लेशमात्र कुछ ही प्रतीत होते

वैचित्त्यान् पुनरुक्ताञ्छनमृतः कण्ठयेन वाच्येन वा ।

ज्याक्षेपं कथयन्ति पद्मलक्षो लेखाक्षरश्रेणयः ॥ २२ ॥

विदू०—किं उज्वेलदि केलिकदलीए करिणुण्डादंढावेडो ? ता एहि अणुसरहा ! ( किमुद्वेल्लति केलिकदल्यां करिणुण्डादंढावेष्टः । तस्मादेहि अनुसरावः । )

राजा—इदनुभयमनन्यगामि, यन्मृगाङ्कानुवर्तनं रत्नाकरस्य, मन हृदयानुवर्तनं च भवतः ।

विदू०—( अहल्या निर्दिशन् ) इतो माधवीलतामण्डवं गदा । जदो मभरद्वअपसिद्धि व्व पअरिछोली दीसदि । ता णिवुणं अणगतो भविअ णिरूवहा । ( इतो माधवीलतामण्डपं गता । पतो मकरध्वजसिद्धिरिद पदपंक्ति-दृश्यते । तस्मान्निपुणमप्रतो भूत्वा निरूपपादः । )

( तथा कुरुतः )

मृगाङ्कावली—( लतान्तरे चन्द्रिकात्परशमभिनीय संस्कृतमाश्रित्य )

हैं । अन्यमनस्कता के कारण उनमें पुनरुक्त दोष भी हैं । लेख की ये अक्षर पंक्तियाँ इस प्रकार उस पद्मल ( सुन्दर घरीनी वाले ) नैत्रोवाली सुन्दरी के व्याघ्र को स्वरूपेण बतला रही हैं ॥ २२ ॥

विदूषक—क्या केलि-कदली में हाथी के गुण्ड-दण्ड की मूर्ति आङ्कन लक्षित हो रहा है ? तो आओ ! पंछा करें ।

राजा—ये दो अन्यगामी नहीं—समुद्र चन्द्रमा का और आप मेरे हृदय का अनुवर्तन करते हैं ।

विदूषक—( अँगुली से निर्देश करता हुआ ) इपर से माधवीलता के मण्डप में गई है क्योंकि कामदेव की प्रसिद्धि सी पद-पंक्ति दिखाई पट रही है । तो आगे होकर मली मूर्ति निरूपण करें ।

( दोनों ऐसा करते हैं )

मृगाङ्कावली—( लता की आड़ में पौधों के स्पर्श का अभिनय करे ) संस्कृत में—



प्रियविरहमहोष्मामर्मरामङ्गरेखा-

मयि हतक हिमांशो ! मा स्पृश क्रोडयाऽपि ।  
इह हि तव लुठन्तः प्लोपपीडां भजन्ते

दरजरठमृणालीकाण्डमुग्धा मयूखाः ॥ २३ ॥  
( इति द्विबिरभिधाय रोदिति । )

राजा—( विदूषकं प्रति ) सखे कारय चक्षुषी पारणाम् । यतः—  
अन्तस्तारातरलितजलाः स्तोकमुत्पीडभाजः

पद्माग्रेषु प्रसृतपृपतः कीर्णधाराः क्रमेण ।

चित्तातङ्कं निजगरिमतः सम्यगासूत्रयन्तो

निर्यान्त्यस्याः कुवलयदृशो वाष्पवारां प्रवाहाः ॥ २४ ॥

अपि च—

मुक्त्वाऽनङ्गः कुसुमविशिखान् पञ्चकृणीकृताप्रान्  
मन्ये मुग्धां प्रहरति हठात्पत्रिणा वारुणेन ।

रे अधम चन्द्र ! प्रिय की विरहाग्नि से सन्तप्त मेरे दुर्बल शरीर का स्पर्श  
विनोदार्य भी मत कर । किञ्चित् पके हुए कमलिनी-दण्ड के समान ( गौर एवं  
शतल ) तेरी किरणें मेरे शरीर पर पड़कर उष्णता को प्राप्त हो रहीं हैं ॥ २३ ॥

( ऐसा दो-तीन बार कहकर रोती है )

राजा—( विदूषक से मित्र ! नेत्रों को पारण कराओ—इनकी रूप-दर्शन  
को निनासा शान्त करो क्योंकि—

नील-कमल के समान नेत्रों वाली इस सुन्दरी के आँसू पहले पुतलियों से  
तरल-भाव को प्राप्त हुए, क्रमशः थोड़ा सा दबाव पड़ने से बरौनियों के अप्र-  
भाग पर बूँदों के रूप में फैल गए । तदनन्तर परस्पर गुँथ कर एक धारा में  
परिवर्तित हो गए और अब अरनी गुरुता से ( सुन्दरी की ) आन्तरिक  
पीड़ा को सम्यक् प्रकार से प्रकट करते हुए प्रवाह के रूप में बाहर निकल  
रहे हैं ॥ २४ ॥

और भी—

मादम होता है कामदेव अपने तरकस में रखे हुए पाँचों कुसुम-शरों  
को त्याग कर इस बेचारी भोली-भाली अक्ल पर बहुरात्र से प्रहार कर रहा

पारां पूराः कथमितरथा स्फारनेत्रप्रणाली

वक्रत्रोद्धान्तस्त्रिवलिचिपिने सारिणीसाम्यमेति ॥ २५ ॥

( विदूपकं हस्ते गृहीत्वोपसृत्य सानुरागप्रथमम् )

यस्य कृते बहसि राजा मृदितमृणालानि गात्राणि ।

यस्य कृते सोऽपि तथा तदखण्डितशासनो मदनः ॥ २६ ॥

मृगाङ्गावली—( सप्रणयं ससाध्यतश्च तमवलोक्य )

किं एसो अणंगो ? परपुरिसो, असिप्पिसंपुडा या मोत्तिअ उण्पत्ति । किं च चूदलट्टिअ व्व सहआरोभूता, राशि व्व कण्णआत्तणं उपगदा एदस्स दंसणेण महग्घीकिदा मे तणु पडिभादि । ( तं प्रति ) सहि, एसो सो राआ विञ्जाहरमल्लो जो सिरिसरस्सइणं घल्लहो मअण-मुन्दरीए अ । जस्स वल्लहाओ सिरीसरस्सइमअणमुन्दरिओ । ( किमेपो-अनङ्गः, परपुरुषः, अशुक्तिसम्पुदा वा मांकिकोत्पत्तिः । विञ्ज, चूतपट्टिरिव सहकारीभूता, राशिरिव कन्यकात्ममुपगता, एतत्त्व दर्शनेन महाधीकृता मे तनुः प्रतिभाति । सखि, एष स राजा विद्याधरमल्लः, यः धीसरस्वत्योर्वल्लभो मदन-मुन्दर्याश्च ! यस्य वल्लभाः धीसरस्वतीमदनमुन्दर्यः । )

है, नहीं तो और कैसे दीर्घ नेत्रों से प्रवाहित यह अभ्रु-प्रवाह क्रमशः मुग्न पर से बढ़ता हुआ अन्त में त्रिदली के विजिन में पहुँचकर लघु नदी की समता प्राप्त कर रहा है ॥ २५ ॥

( विदूपक का हाथ पकड़कर, निकट जाकर सानुराग एवं नन्नतापूर्वक )

जिसके लिए मनस्ताप से तुम अपने शरीर को मसले हुए कमल सा कर रही हो, यह भी उसी अवस्था को प्राप्त हो रहा है । कामदेव का शानन खण्डित नहीं होता—उसका प्रभाव दोनों तरफ बराबर ही पड़ता है ॥ २६ ॥

मृगाङ्गावली—( प्रांति तथा भय के साथ उसे देख कर )

क्या यह पर पुरुष कामदेव तो नहीं है ? बिना संयो- के मोतियों की उत्पत्ति । मंजरियों से मुगन्धित एवं शोभित धाम की यहनी सी, कन्या भाव को प्राप्त ( कन्या ) राशि सी मेरी शरीर-गति को इस ( विद्याधरमल्ल ) के दर्शन ने बहुमूल्य बना दिया—ऐसा प्रतीत होता है । सखि ! क्या ये राजा विद्याधरमल्ल हैं, जो लट्ठी, सरस्वती और रति के वल्लभ हैं और लक्ष्मी, सरस्वती तथा रति जिनकी पत्न्या हैं ।

विचक्षणा—आम् ।

राजा—विचक्षणे, नन्वेवं वक्तव्यं भवति, यो मृगाङ्गावली-वल्लभो यस्य मृगाङ्गावलीवल्लभेति । ( तां प्रत्यञ्जलिं बद्ध्वा )

तरङ्गसदृशोऽङ्गने पततु चित्रमिन्दीवरं

स्फुटीकुरु रदच्छट्टं भजतु विद्रुमः श्वेतताम् ।

क्षपं वपुरपावृणु घृशानु काञ्चनं कालिका-

मुदञ्चय मुखं मनाग्भवतु च द्विचन्द्रं नभः ॥ २७ ॥

मृगाङ्गावली—( स्वगतम् ) भवद्वि मअंकमंडणे जामिणि ! सजामा होहि । ( भगवति मृगाङ्गनण्डने यामिनि ! क्यामा भव । )

राजा—सखे ! न हारविरहमर्हत्येपा । न चित्रशिखण्डिदाम्ना विना चकास्त्युदीचो ।

( इति कण्ठादवतार्य नायिकाकण्ठे हारं विधत्ते । )

विचक्षणा—हाँ ।

राजा—विचक्षणे ! ऐसा कहना चाहिए—जो मृगांकावली का बल्लभ है और मृगांकावली जितका बल्लभा है । ( उससे हाथ बौद्धकर )

हे मुन्दरी ! ( जग दृष्टि-पात तो करो ) तुम्हारी दृष्टि की तरंग भूमि में नोले-कमल का अधःपात हो । ओठ तो खोलो, ताकि ( उसकी लाली के सामने ) नूँगा सफेद सा लगे । जरा शरीर पर से वस्त्र हटा दो, ताकि ( उसके गौर वर्ण के सामने ) सुवर्ण भी काला लगे । जग मुख ऊपर तो करो ताकि आकाश दो चन्द्रमा वाला हो जाय ॥ २७ ॥

मृगाङ्गावली—( स्वगत ) हे भगवती चन्द्रशोभने रात्रि देवि ' तुम और दम्बी हो जाओ ।

राजा—सखे ! यह मुन्दरी हार से विरहित होने योग्य नहीं है । उत्तर दिशा उत्तर्धिमण्डल के बिना शोभित नहीं लगती ।

( ऐसा कहकर कण्ठ प्रदेश से उतार कर हार नायिका के कण्ठ प्रदेश में डाल देता है । )

विदू०—उचिदसमागमो क्तु एतो कण्ठं रञ्जेदि । जं दाणी  
गित्तलमुत्ताहलमालालङ्करणो सुन्दरीअणो वक्कोत्तिविभूषणो विअ मुक्कइ-  
वाणीवन्धो । ( उचितसमागमः खल्वेप कण्ठं रञ्जयति । यदिदानीं निस्तलमुक्ता-  
फलमालालंकरणः सुन्दरीजनो वक्कोत्तिविभूषण इव सुकविवाणीवन्धः । )

( नेपथ्ये )

चालिञ्जंतु लदामंडवपहुदीणी थिलासट्टाणाइं, ताणिञ्जन्तु कडकिआ  
हुआराइं, णिविद्वञ्जन्तु अमालाओ, चिट्टन्तु जहाणिअट्टाणं वाहिरदे  
जामइल्ला सोविदल्ला । एसा वारविलासिणीजणगहिदइत्यवि- त्थारिजण-  
विणोदिअदिवसा सिद्धणरेददिण्णोसधविज्जिभिअ मंजिट्ठत्थअ-  
सदसहस्सालंकिदं माहवीमंडवं दट्टम इच्छइ देवी । ( शोष्यन्तान्  
लतामण्डपप्रभृतीनि विलासस्थानानि, संहृत्यन्तां गवाक्षद्वाराणि, निब्रूयन्तान्  
अर्गलानि, तिष्ठन्तु यथानिब्रूयानं बहिर्यामयन्तः सौविदल्लाः । एसा वारविला-  
सिनीजनयद्दीतइस्तविस्तारिजनविनोदितदिवसा सिद्धनरेन्द्रदत्तौपधिविजुम्भितमाञ्जि-  
ष्टस्तवकशतसहस्रालङ्कृतं माधवीमण्डपं द्रष्टुमिच्छति देवी । )

विचक्षणा—( सत्रासन् ) भट्टा विसञ्जीअदु प्पिअसही । ( भर्तः,  
विसृज्यतां प्रियसखी । ) .

विदूषक—यह उचित समागम कण्ठ को सुशोभित कर रहा है । चञ्चल  
मुनाहार ही स्त्रियों का अलङ्कार है । सुकविजन के काव्य का विभूषण  
वक्कोक्ति है ।

( नेपथ्य में )

लता-मण्डप आदि विशाल-स्थानों को शुद्ध, स्वच्छ एवं ठीक कर लो ।  
सरोतों के द्वार बन्द कर दो, सिट्कनी लगा दो । अन्तःपुर के सेदक, जो  
पहरे पर हों, बाहर अपने अपने उचित स्थान पर लड़े रहें । स्त्रियों के  
साथ दिन व्यतीत कर महारानी की, जिसका हाथ वारवनिताएँ पकड़े हुए हैं—  
सिद्ध देवों की दो गई ओपधि से उत्तम मञ्जीठ रंग के लाल सेकड़ों सहस्रों  
पुष्पों के गुच्छों से अलङ्कृत माधवीमण्डप को देखना चाहती हैं ।

विचक्षणा—( भय के साथ ) स्वामिन् ! प्रिय सखी को जाने दीजिए ।

राजा—अभ्यर्थये हृदयं यदि प्रार्थनाभङ्गं न करोति ।

विदू०—तुरिदं विसज्जीअदु, अण्णधा सरन्ता विअ पञ्जरणिवद्धा भविस्सामो । ( त्वरितं विसृज्यतां, अन्यथा शकुन्ता इव पञ्जरनिवद्धा भविष्यामः । )

( इति यथायथं परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे )

इति विद्वशालमञ्जिकायां तृतीयोऽङ्कः



राजा—हृदय से प्रार्थना कर रहा हूँ, यदि वह प्रार्थना भङ्ग न करे ।

विदूषक—शांघ जाने दीजिए, नहीं तो हम लोग पक्षी की भाँति पिंजड़े में बँध जाँयगे ।

( सब क्रमशः घुमकर निकल गए )

इति तृतीय अङ्कः समाप्तः ।

## अथ चतुर्थोऽङ्कः

( नेपथ्ये )

सुप्रभातं देवस्य केयूरवर्षम्य । सम्प्रति हि—  
 ब्रजत्यपरवारिधि रजतपिण्डपाण्डुः शशी  
 नमन्ति जलवुद्बुद्बुत्तिसपङ्क्तयस्तारकाः ।  
 कुरण्टकविपाण्डुरं दधति धाम दीपाङ्कुरा—

इचकोरनयनागणा भवति दिक् च सौत्रामणी ॥ १ ॥  
 ( ततः प्रविशति विदूषकः मुता ब्राह्मणी च )

विदूषकः—भो पुष्करमाले उट्टेहि संज्ञां वन्दितुं । अदिक्न्ता रअणी ।  
 सुण णरेन्द्रवन्दिणो कपूरचंडरस पभादभोआवलि । ( विमृश्य ) कइं  
 देवी गरिष्टगोष्ठीजणिदजागरणकिलन्ता मुत्ता चहाणी ? अज्जवि ण  
 णिहं मुंचेदि । ता पडिवालेमि । जदो मुत्तो ण पडिबोधिद्वच्च त्ति यहागा  
 भणंति । ( भोः पुष्करमाले, उत्तिष्ठ संज्ञां वंदितुम् । अतिक्रान्ता रजनी, शृणु  
 नरेन्द्रवन्दिनः कर्पूरचण्डस्य भोगवलीम् । कथं देवीगरिष्टगोष्ठीजनितजागरण-  
 क्त्यान्ता मुता ब्राह्मणी अद्यापि न निद्रां मुञ्चति । तस्मात् प्रतिपालयामि । यतः  
 मुतो न प्रतिदोषितव्य इति ब्राह्मणा भणन्ति । )

( नेपथ्ये मे )

देव केयूरवर्ष को प्रभात सुनकर हो । इस समय—चौंटी के गोल के समान  
 गौरवर्ण चन्द्रमा पश्चिम समुद्र को जा रहा है, पञ्चदश तारा-गण पानी के  
 बुलबुले की भाँति छुक रहे हैं—अस्त को प्राप्त हो रहे हैं । धरों के दोपक की ली  
 कुटजपुष्प की भाँति दिनेप उज्ज्वल हो रहा है एवं पूर्वदिशा चकोरों के नेत्रों की  
 भाँति लाल हो रहा है ॥ १ ॥

( इसके बाद विदूषक प्रवेश करता है और ब्राह्मणी सोई हुई है )

विदूषक—अरे पुष्करमाले ! सन्ध्या-चन्दन के लिए उठो । रात बीत गई ।  
 गजा के बन्दी कर्पूरचण्ड का प्रभात-दर्शन मुनो । अरे क्यों ! महारानी की गोष्ठा में  
 जागने लगे थे फरिष्टगोष्ठीजनिदजागरणकिलन्ता मुत्ता चहाणी । 'ओ देहराजों'  
 प्रतीक्षा करूँ क्यों कि सोये व्यक्ति को नहीं जगाना चाहिए—देमा ब्राह्मण करते हैं ।

ब्राह्मणी—( उल्लवनायमाना ) विष्णुतो विश्वस्तणामुदेण देवीए  
 भद्रा । जइ ओअल्लागदस्स मिअङ्कवम्मस्स दहिणी मिअङ्कावली णामसि-  
 णिदेण भादुअं दट्ठुं आअदा । सन्दिट्ठव्वे मादुलचंदवम्मणा मादुल्लागीए  
 हारलदाए अ । जया, एसा दे दहिणी मिअंकावली देवग्ग गगएहिं  
 कहिंदचक्खत्तिपरिणीभावा, सा तुए उचिदं वरं लंभइदव्वात्ति । तद्दे  
 देवी देवं विष्णुवेदि, ण तुन्हाहितो अण्णो वरो एदाए जोग्गो । जइ  
 पोन्नराअमणी एव्व एआवलि अलंकरेदि । ता परिणेतुं अज्जत्तो । ण  
 अत्तगो सिरो अण्णहत्थे संक्रमयिदत्वा होदि । णअ एदं आसंकिदर्थं  
 किं ति देवी अत्तगो सापत्तगेग पअट्ठिदि ति । जइो महाउल्लपसूदानं  
 भत्तुगो पिअं एव्व अप्पगो पिअंति । किं च, पुणो परिणाविदो एव्व मए  
 अज्जत्तो । तं जया, मअधाहिं व सुदं अणंगलेहं, मालवपरंदट्ठुहिअरं  
 रअणावदि पिअदंअं अ, पांचालराजतणअं विलासवदि, अवंतीसरसुदं  
 केळिवदि, कलावदि अ, जालंधरेसकुमारिलीलावदि, केरलाअपुत्ति  
 पतत्तेहं च ता अज्ज चिअपदोसे विआह-लग्गो ति ल्णो ल्णो भणिदेण  
 महाराएण तहत्ति पडिदण्णं । तानेहल-वुत्ततं पडिकादुं अलीअधिवाहेण  
 विडंबीअदु भद्रा । कुविदस्स मे भत्तुणो उत्तरं ईसिअरं हुंविस्सदि,  
 ( विअतो विचक्षणासुत्तेन देव्वा भवं । यथा ओअल्लागदस्य मृगाङ्कवर्नगो  
 भगिनी मृगाङ्कावली नाम स्नेहेन भ्रातुक्कं द्रष्टुमागता । सन्दिट्ठव्वे मादुलेन  
 चन्द्रवर्नगा मादुल्लान्ना हारलवदा च । यथैवा ते भगिनी मृगाङ्कावली देवज्ञगणैः  
 कपित-चक्रवर्ति-ग्रहिणांभावा, सा त्वयोचितं वरं लभ्मथितव्येति । तस्माद्देवी देवं  
 विचक्षन्ति न दुःखतोऽन्यो वर एतत्त्वा योग्यः । यतः परारागमणिरैवैकावली-

ब्राह्मणी—( सोते में बड़बड़ाते हुई ) महारानी ने विचक्षणा के  
 हाथ स्तनी को सूचित किया है कि ओल्लागत मृगाङ्कवर्मा का बहिन  
 मृगाङ्कावली लोहदध भाई को देखने आई है और मेरे मामा  
 चन्द्रवर्मा तथा मामा हारलता ने सन्देश दिया है कि इस तुम्हारी बहिन  
 मृगाङ्कावली के विषय में ज्योतिषियों ने कहा है कि यह चक्रवर्ती को पत्नी होगी,  
 अतः तू न किसी योग्य वर से इतका विवाह करा दो । अतः महारानी ने  
 महाराज से कहा है कि तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा वर इसके योग्य नहीं है । क्योंकि

मलङ्करोति । तस्मात् परिणयत्वार्यपुत्रः । नाऽऽत्मानः धीरन्यदस्ते संक्रामयितव्या भवति । न चैतदाशङ्कितव्यं किमिति देव्यात्मनः सापत्न्येन प्रवर्तत इति । यतो महाकुलप्रयूतानां मर्तुः प्रियम् एवाऽऽत्मनः प्रियमिति । किञ्च पुनः परिणापित एव ममार्यपुत्रः । तद् यथा, मगधाधिपसुतामनङ्गलेखाम्, मालवनेन्द्रदुहितरं रत्नावतीं प्रियदर्शनाञ्च, पाञ्चालराजतनयां विलासवतीम्, अवन्तीश्वरसुतां बेलीमतीं कलावतीञ्च, जालन्धरेश्वरकुमारो लीलावतीं, केरलराजपुत्रीं पत्रलेखाञ्च तस्मादद्यैव प्रदोषे विवाह-लग्नमिति पुनः पुनर्भागितेन महाराजेन तपेति प्रतिपन्नम् । तस्मान्मे-खलावृत्तान्तं प्रतिकर्तुमलीकविवाहेन विद्वम्ब्यता मतां, कुपितस्य मे मर्तुवत्तरम् ईषत्करं भविष्यति । )

विदू०—( विद्वस्य ) जइ धम्मं अधम्मो जइस्तदि । जाणित्स्सं जो एत्थ विद्वंविद्व्वो । ( विचिन्त्य ) ता चिरं पाभइद्व्वा जुण्णमञ्जरी दुद्धंति कंजिअं । कुबलअमालाए लण महाघिलंबणं जं महिला माहिलाए परिणेद्व्वा । ( उध्वंमवलोक्य ) महदीं वेलां घट्टदि, ता उट्टावेमि घट्टणि, उट्टेहि देवी तुमं याहरदि । ( यदि धर्ममधर्मो जेष्यति । शास्वामि योऽत्र विद्वम्बयितव्यः । तस्माच्चिराय पाययितव्या ज्ञानमाञ्जरी दुग्धमिति शङ्किष्वम् ।

पद्मरागमणि ही एकावली हार को अलङ्कृत करता है । अतः आर्यपुत्र इमत्ते विवाह कर लें । अपनी लक्ष्मी दूसरे के हाथ में नहीं डालना चाहिए और इसके सौत होने से देवी के मन में क्या प्रतिक्रिया होगी—ऐसी शट्टा आप न करें । क्योंकि उच्चकुल में उत्पन्न स्त्री का अपने पति का प्रिय हो अपना प्रिय होता है । और मैं आर्यपुत्र का विवाह अन्य स्त्रियों से क्या ही चुरी हूँ—जैसे मगध-नरेश की कन्या अनङ्गलेखा, मालवाधिप की कन्या रत्नावती और प्रिय-दर्शिका, पाञ्चालराज की पुत्री विलासवती, अवन्तीधर की सुता केलिमती और कलावती, जालन्धरेश्वर की कुमारी लीलावती एवं केरल-राज की पुत्री पत्र-लेखा ( के साथ । ) तो आज ही चायकाल विवाह का लग्न है । इस प्रकार बार-बार करने से महाराज ने स्वीकृति दे दी । तो मेखलावाली घटना का बदला लेने के लिए मिथ्या-विवाह द्वारा स्वामी को धोखा दिया जाय—वे कुपित होकर कुछ नहीं कर सकेगे ।

विदूषक—( हँसकर ) यदि धर्म को अधर्म जांत सकेगा । देखूंगा किन्हीं



कुवलयमालायाः पुनर्महाविडम्बनं यन्महिला महिलया परिणेतव्या । महती वेला वर्तते, तस्मादुत्थापयामि ब्राह्मणीम् । उत्तिष्ठ, देवी त्वां व्याहरति । )

ब्राह्मणी—( विबोधनादितकेनोत्थाय ) अए उच्छूरं वट्टदि । ( तं विलोक्य )  
हंहो मिअत्तिण्हिआ—जामादुअ ! तुमं परमेसरपस्सवही होहि । अहं  
उण देवी अणुसरिस्सं । [ इति परिक्रम्य निष्क्रान्ती । ( अए, उत्सूरं वर्तते । भो  
मृगनृष्णिकात्रामातस्त्वं परमेस्वरपाश्र्ववतीं मवाहं देवी मनुसरिष्यामि । )

( प्रवेशकः )

( ततः प्रविशति राजा विदूषकरच )

राजा—( मदनसंतापयोः पीडामभिनीय ) सखे ! संप्रति शैशवादपक्रामति  
श्रीभ्रमसमयः ।

रजनिचरमयामेवादिशन्ती रतेच्छां

किमपि कठिनयन्ती नारिकेलीफलाग्नः ।

अपि परिणमयित्री राजरम्भाफलानां

दिनपरिणतिभोग्या वर्त्तते श्रीभ्रम-लक्ष्मीः ॥ २ ॥

विडम्बना होती है । बुद्धी विह्वली को दूध के बहाने छल मिलाता है ।  
कुवलयमाला की तो और विडम्बना होगी, बच खी का खी से विवाह होगा ।  
बहुत देर हो रही है, तो ब्राह्मणी को उठाऊँ । ( उठो, तुम्हें महारानी जी बुला  
रही हैं ) ।

ब्राह्मणी—(जागने का अभिनय कर, उठकर) अरे ! सन्ध्या हो गई । हे मृगनृष्णिका  
के दामाद ! तुम महाराज के पास चलो और मैं महारानी के पास चल रही हूँ ।

( प्रवेशक )

( इसके बाद राजा और विदूषक आते हैं )

राजा—( काम और संताप की पीडा का अभिनय कर ) सखे ! इस  
भ्रमसमय श्रौंभकाल अपने शैशव को त्याग कर ख्वानी कां और जा रहा है ।

यह श्रौंभ काल रात्रि के पिछले पहर में सुरत-क्रीडा की प्रेरणा देता है,  
नारिकेल फल के बल को ( सुखाकर ) कठोर बना देता है एवं कदली-फली  
को पकाता है । श्रीभ्रम लक्ष्मी सायंकाल उपभोग योग्य होता है—सायंकाल  
श्रीभ्रम का आनन्द उठाना चाहिए ॥ २ ॥

अपि च ।

जलाद्रिः संन्यानं यिसकिसलयः फेलिबलयाः  
शिरीषैरुत्तंसा विचकिलमयी हाररचना ।  
शुचावेगाक्षीणां मलयजरसाद्राश्च तनवो  
विना तन्त्रं नन्त्रं रतिरनगमृत्युञ्जयपिधिः ॥ ३ ॥

विद्वपकः—एवं एद्रं । अद्गारिसजजत्स रललासभस्त उहुप्पाओ वट्टइ घम्नो ।  
( एवनेतत् । अग्मादशवनत्य खलाशपत्य उहुमायो वर्तते धर्मः । )

यथा—( निःसर्दं विहस्य ) ललाटंतपस्तपनो नखंपचाथ पयिपांसवः ।

सद्मूर्यपद्या राजदाराः । अपि च—  
हरन्ति हृदयानि चच्छ्रवणशीतला वेणवो  
यदङ्कितकरंविता शिशिरवारिणा वारुणी ।  
भवन्ति च हिमावहाः स्तनभुवो यद्वेणीदशां  
शुचेरुपरि संस्थिवो रतिपतेः प्रसादो गुरुः ॥ ४ ॥

धर भी—

ये सब ब्राह्म में विना तन्त्र-मन्त्र के कामदेव को अमर बनाने के लिए  
मुन्दरियों के साधन हैं—जट से आर्द्र एवं शंखल वस्त्रों से शरीर को आच्छा-  
दित करना, कमल-नाल के काटा-कंठन, शिरप-पुष्पों के कर्णभूषण, विचकिल  
पुष्पों के हार एवं चन्दन रस से आर्द्र शरीर ॥ ३ ॥

विद्वपक—हाँ ऐसा ही है । इन ऐसे पार्वी को धर्म उहुमाय है ।

यथा—( हरन न करता हुआ हंसकर ) सूर्य माये को रना रहा है—  
बहुत तीव्र हो रहा है, मार्ग को धूँट पावों को छुलता रही है, तो ( ऐसे समन  
में ) रनिवास की यानियों, जिन्हें सूर्य का दर्शन दुर्लभ होता है, ( कितनी मुत्त-  
दायक होता है ) धर भी—

बानों को मधुर लगाने वाला दंशीरव टटय को हर लेता है, पात में  
शंखल-जल-मिश्रित वाद्यनी ( शंखलता प्रदान करता है ) एवं मृगनपनिनों  
का स्तन-प्रदेश शीतलता प्रदान करता है । यह सब ब्राह्म श्रुत पर सूर्य की बड़ी  
कृपा है ॥ ४ ॥

एवं च सखे ! संश्रुणुमः—

मूलं बालधि-व्याहृथां सुरभयो जातीतरुणां त्वचः  
 साराश्चन्दनश्राखिनां किसलयान्यार्द्राण्यशोकम्य च ।  
 शैरीषी कुमुमोद्गतिः परिणमन्मोचश्च सोऽयं गणो  
 प्रीष्मेणोष्महरः पुग किल ददे दग्धाय पञ्चेपवे ॥५॥

( निःसहतामभिनीय )

मयि शिशिरतरोपचारयोग्यं द्वितयमिदं युगपन्न सख्यमेव ।  
 जरठितरविदोधिनिश्च कालो दयित-जनेन समं च विप्रयोगः ॥६॥

( नेत्र्ये ) दोलालआहिक्कुंचनसरलंगुलिदीहराहिं चरणाहिं अपहारिज्जइ  
 बलइअकरजुअलंचिअणेउराहरणम् , करजुअलनिविडपीडिदपेरंतविणिग्ग  
 अंचलचडुलपा छोडिज्जइ सरमससहीपडिक्खिआ चिअ कणअकंचुलिआ  
 ( मणि ) खचिदोअरसिठिलयणकंचुअत्थइयणभराहितो अयणिज्जइ उद्ध-

और हे मित्र ! हम ऐसा सुनते हैं—

बालधि लताओं का मूल, जातीवृक्ष की सुगन्धमय छाल, चन्दन वृक्ष का  
 सार, अशोक वृक्ष की नयी कोपल, शिरीष वृक्ष के कुमुम, पन्ता हुआ केला—  
 इन सब गमों दूर करने वाली बलुओं को ( शंकर जी द्वारा ) मत्तन किये गए  
 आनन्देव की प्राचीन काल में ग्रीष्म ने प्रदान किया था ॥ ५ ॥

( असह्यता का अभिनय कर )

प्रचण्ड सूर्य की किरण और प्रियजन का वियोग—इन दोनों की शतल  
 जनचार सामग्री की अपेक्षा होती है, मुझे एक ही समय में ये दोनों सर्वथा  
 असह्य हैं ॥ ६ ॥

५) ( नेत्र्य में ) हिंडोले के समान वक्रगति से झूटते हुए एवं सीधी  
 किंगुलिनों के कारण दोष प्रतीत होने वाले चरणों से, दोनों हाथों को बलयाकार  
 बनाकर नूपुर उतारे जा रहे हैं । दोनों हाथों के लगातार पीड़न से एक ओर  
 सरके हुए अञ्जलरूपी आत्मावाली स्वर्ण कञ्चुकी खोली जा रही है । मणियों  
 में खोचिअ अन्तरभाग वाले शिथिल स्तनकञ्चुक से टँके हुए स्तनों से हाथ ऊपर

करककट्टणुविलं उवरिल्लम् । उभयकरवलङ्गुलोपरिगगइणमुक्ककट्ट-  
 सट्टाणो उद्वारिज्जइ धण-मण्डलाहि दरांदोलिओ हारो । परिपाटिसमुण्ण-  
 निअभुजलअं परप्फरं करग्गेहि कट्टिज्जइ कमसिठिलसंकाउभाओ वज्ज-  
 णकडओ । कमसो सरंत संजमणकुडिलं आनूलुभुम्विआणअम्यो उरज्जइ  
 णइपरिपाटितरलिओ एसो चिउरपासो । सर्गलितरलंगुलिदिवरंविआगि-  
 म्मुक्ककट्टिडिलविणिवेसो काणिज्जइ उज्जइलाउभुअ-धअणम्मि अलजाणं  
 णिउरंयो । करकमलकपिट्टंगुलिगहसिहन्ल्लिहिअतवलिस्सत्थिगअं पट्टो-  
 रिउज्जइ पुणरुत्तमंगलस्स वलाहि णिअंबंसुअं । पुढमोवतिष्णापिअ-गणिसं-  
 पुट्टमंपिट्टिआसु धारासु दरदन्तसमूहपहारासु इत्थं नच्छिउज्जइ एत्थं तह  
 मणो हरइ वारविलासिणीणं दइअसहिदाणं गिआवरहसोभग्गसत्तणो  
 मज्जणारंभो । ( दोलालतामिकुञ्चनसरलाद्वलिटीषांचरणादपदायते । बलवितकर-  
 युगलाञ्चितनूपुराभरणम् । करयुगलनिप्रिडपीडितपर्यन्तविनिर्गताञ्चलचट्टुलात्ता  
 मुच्यते सरमससखीप्रतीधितैव कनककञ्चुलिका ) । ( मणि) खचितोदराशयिल्लन-  
 कञ्चुकरथगितत्तनभरादपनीयते ऊर्ध्वकराप्रकर्षमाव्यत्यत्तमुचरीयन् । उभयकरवल्-  
 वितागुलिपरिगगइणमुक्ककट्टसंस्थानः उदायते स्तनमण्डलाद् दरन्दोलितो हारः ।  
 परिपाटिसमुत्तमितभुजलतं परस्परं करमैः कृष्यते क्रमशियिल्लकट्टभावः काञ्चन-  
 कटकः । क्रमशः सरत्संयमनकुट्टिन्मानूलुभुमितवित्तम्यो विकीर्यते । (नख) परिपाटि-

करके खीचकर व्यत्यस्त उत्तरीय हुआया जा रहा है । दोनों हाथों की दलनाकार  
 अँगुलियों द्वारा कण्ठस्थान को छोड़ देने वाले एवं क्विचित् आन्दोलित हार,  
 स्तनमण्डल से ऊपर उठाया जा रहा है । परिपाटी ( कंठ उतारने का दंग )  
 से मुजाओं को उन्नमित करते हुए परस्पर दोनों हाथों से क्रमशः पीडा-भाव  
 को कम करने वाला काञ्चन-कटक ( सोने का पंगन ) उतारा जा रहा है ।  
 क्रमशः दन्धन टोला होने से मूल-पर्यन्त नितम्बदेश को छूने वाला कुट्टि-पेय,  
 जो नख-चिह्नों को श्रेणियों पर लहरा रहा था, अब विकीर्ण किना जा रहा है ।  
 सरल और बन्धल अँगुलियों के दिवरों में आए हुए निर्मुक्त एवं कुट्टि-  
 विन्यास वाला अलकों का समूह कान्तिमान् और सुन्दर मुग पर मुद्रहाता जा  
 रहा है । करकमलों की कनिष्ठगुलि के नखों के शिखरों से चिह्नित विनयों और

तल्लिख एष चिह्नरपाद्यः । सरस्वितरत्नांगुलि-विपरञ्चितनिर्भुक्तकुटिलविनिवेशः  
सर्पक्रियते कर्षस्वप्नाद्भुतपदने अलङ्कानां निकुरंबः । करकमलझनिश्यागुचिनलशि-  
स्त्रोत्तिलितत्रिचलितस्त्रिभंगम् उन्मुच्यते पुनरुक्तनंगलाय वशास्त्रितम्बांशुकम् ।  
प्रथमावर्तार्णप्रियभागिनीपुटसंरंजितासु धारासु दरदत्तसमूहप्रहारसु हस्तोऽर्चने क्षणा-  
घन् । इह तथा मनो हरते वागविव्यसिर्नाना दमितसहितानां प्रप्यापराहमौभा-  
ग्यसंजनो मञ्जनारम्भः । )

राजा—( समाकर्ष्य ) एवमेवैवन् ।

इह विचक्रिलचापे मन्दधन् पाटलाम्त्रं,  
त्रिभुवनजयलीलालसः कौतुकेन ।  
दिवसगननकैलिम्नायिनीनां वधूना-  
नधिवसति मनोभूर्मानिसादङ्गमङ्गम् ॥ ७ ॥

विदूषकः—भो सुगाहि दाव, अन्तरिदो पिअकहानु अदिकन्तपओस-  
वुरान्णो । जदो सिविणअदंसणदिअहादो पट्टुदि देवी पुगो पुगो पमज्जदि ।  
तद्गुवंवेम पिङ्गलिआ त्रि वड्ढणी दिणे दिणे मत्तेइ । ( भोः श्रुत्य वापत् ,

बाँ में स्थित नितम्बांशुक बलपूर्वक पुनर्नंगल के लिए हठात् खोजा जा रहा है । पट्टे उतरे हुए प्रिय के पाणिपुट से पंडित एवं सामूहिकरूप से जितने किञ्चित् प्रहार किया गया था, ऐसी धाराओं में थोड़ी देर के लिए क्षय अभित किया जा रहा है । यहाँ पर प्रियतमों के साम रहने वाली वार-विशानिनीयों के संभाग्य की सूचना देने वाला श्रीम्भापराहमञ्जन मन को नोद रहा है ।

राजा ( सुनक ) ऐसा ही है ।

१) विनोदार्थ विचक्रिल पुष्प के धनुष पर पाटलपुष्प का बाण चढ़ाकर त्रिभुवन को घातने का ऋद्धा करने का इच्छुक कामदेव, श्रीम्भकस्तु की आसन्न उन्मावेश में अलङ्कृत करने वाले युवतियों के मानस से निकल कर, उनके अह-अह में निवास करता है ॥ ७ ॥

विदूषक—अरे सुनो तो—प्रियजनों की ही चर्चा में गत सार्वकाल का

अन्तरितः प्रियकृपातु अतिक्रान्तप्रदोषवृत्तान्तः यतः स्वप्नदर्शनदिवसात् प्रकृति  
देवी पुनः पुनः प्रसन्नति । तदनुबन्धेन निङ्गलिकारि ब्राह्मणो दिने दिने  
मन्त्रपते । )

राजा—युज्यते । यदरिष्टमधिरुहा कारवल्ली-बल्दरी किमुच्यते कटु-  
फलं प्रति न कापि महती वार्ता । किन्तु—

तारान्तः पुरवान् विपत्यपि शशी भो नेत्रपात्रीहृतः

धोऽस्वस्त्ययनं कृतो न च मया वैर्षाद्भक्तः पञ्चमः ।

उन्मत्तः स्मरता दृशो तत इतस्ते साधि सञ्चारिते

नो पीतञ्च सविभ्रम-प्रणयिनीगण्डूषधारं मधु ॥ ८ ॥

विदू०—एदो वि कामिणो उन्मत्ता विअ मे पडिभासन्ति । जदो  
सत्त्वं दाव सुन्दरीअ धन-णिरीस्खगगमणादिहिं किं वि विअरिञ्चन्ति ।  
ता कहेदु, किं एदं ? ( एतेऽपि कामिन उन्मत्ता इव मे प्रतिभासन्ते । यतः  
सत्यं तावत् सुन्दर्या स्तन निरीक्षणगमनादिभिः किमपि विक्रियन्ते । तस्मात्  
कथयतु, किमेतत् ? )

वृत्तान्त सुनाना ही भूल गया । स्वप्नदर्शन के दिन से ही महारानी बहुत  
सजती हैं । उनके अनुबन्ध से पिगलिका ब्राह्मणी भी प्रतिदिन मन्त्रण  
देता है ।

राजा—उचित ही है । एक तो करेला दूसरे नाम पर चढ़ा, तो निर  
उत्तकी कटुआहट का क्या फहना । कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है किन्तु—

उत्त सुन्दरी के इपर-उधर विरछे चलाये गए नेत्रों को स्मरण करते हुए मैंने  
आकाश में तारा ( पत्नी ) युक्त चन्द्रमा को नेत्रों से नहीं देखा, बंजा का मधुर  
पञ्चम स्वर कानों से नहीं सुना तथा हाव-भावयुक्त लक्ष्मी के हाथों से नदिय  
नहीं पी ॥ ८ ॥

विदूषक—ये कामाजिन मां मुझे पागल से प्रवृत्त होते हैं, जो सुन्दरियों  
के शरीर, दृष्टि-पात तथा चाल आदि देखकर झुट विह्वल हो जाते हैं । तो,  
यतामो यद क्या है ?

राजा—किमत्र मां पृच्छसि, तत्रभवन्तं रतिपतिं पृच्छ—

यन् पश्यन्ति झटित्वपाङ्गसरगिद्रोगीजुषा चक्षुषा

बलान्ति कमन्वितोभयभुलं यन्नाम वामभ्रुवः ।

भाषन्ते च यदुल्लिभिः स्वर्वाकनं वैदग्ध्यमुद्रात्मभि-

न्मद्देवस्य रसावनं रस-विधिं मन्ये मनोजन्मनः ॥ ९ ॥

विदूषकः—भो ताए उग अज्जवणीगा अत्थि कविवत्ता ?

( मोक्षत्वाः पुनरद्यतनी नाप्रति कापि वार्ता ? )

राजा—सखे ! अस्ति कथ्यते । यतो गतन्याहः सायं समये विचक्षणा सत्यमेतदवस्थां निवेदितवती ।

विदूषकः—कदरेहिं अक्खरेहिं ? ( कतरैररैः ? )

राजा—

डोलालोलाः श्रसितमरुतश्चक्षुरी निर्झराभे

सत्याः शुष्यत्तगन्मुमनःपाण्डरा गण्डभित्तिः ।

तद्गात्रागां सुदुरिहं क्विद् ब्रमहे दुर्वलत्वं

प्रेमामग्रे प्रतिपदुदिता चन्द्ररेखाऽप्यवन्वी ॥ १० ॥

राजा—इस विषय में मुझसे क्या पूछते हो, अर्थात् कामदेवों को से पूछो । झटिल भौं बालों सुन्दरियाँ विरछे नेत्रों को देखती है, अर्थात् मुझको ही को दिखती वो चयती है, चातुर्न पूर्ण उत्तियाँ से जो मयुर रूप में बंकिनी है—मैं बनसूता हूँ, यह सब कामदेवों के लिए प्रार्थि-विवाषक रसावन है ॥ ९ ॥

विदूषक—अरे, उस सुन्दरी के समन्व में आज जो कोई नई खबर है ?

राजा—सखे, है, कहता हूँ । गत दिवस की तस्वीर को विचक्षण ने उसकी यह सही अवस्था बताई ।

विदूषक—किन अवसरों में ?

राजा—मुनो—

उसको दर्प सौंसे हिंडोले की तरह लम्बी आती-जाती हैं, नेत्र निर्झर की भाँति बल बहा रहे हैं एवं उसके कंगोळ सूतते हुए तगर के पुष्प को भाँति पीले हो गये हैं । उसका शरीर कितना दुर्बल हो गया है—क्या कहूँ, उसके सामने तो नन्दिर को चन्द्र रेखा भी मोटे ही चण्टी है ॥ १० ॥

विदूषकः—तदो तदो ? ( ततस्ततः ? )

राजा—ततश्च

नागधस्त्रिरोहितु पूगं रात्रिरेणलिलकेन समेतु ।

त्वामसौ ब्रजतु किन्नरफण्टी फामुं कं दहतु जैत्रमनङ्गः ॥ ११ ॥

विदूषकः—विअक्खभायअणाओ जाणीअदि पाणिपीडणा पुरदो पाविओ-  
अप्पा । ( विच्छनापचनात् टापते पाणिरीडनात् पुरतःशान्ति आत्मा । )

राजा—स च चतुष्पदीपर्यवसितः इलोकः प्राभृवीकृतः ।

विदूषकः—ता पसाद् कटुञ्ज पटद्दु पिअवअन्तो ।

( तस्मात् प्रसादं कृत्वा पटत्रु प्रियवनत्वः । )

राजा—( पठति )

विषत्ते सोल्लेखं कवरदिह नागं तरुणिमा

तथापि प्रागल्भ्यं किमपि चतुरं लोचनयुगे ।

विदूषक—उसके बाद ?

राजा—उसके बाद

वह हस्त्र के समान मधुर द्रष्टे वाली तुम्हें जो प्राप्त हो जाए तो समझिये  
बैठे पान की देल तुमारी के वृक्ष पर चढ़ जाय, रात्रि चन्द्रमा से कुछ हो जाए  
अथवा कामदेव अपना विजयी धनुष धारण कर ले ॥ ११ ॥

विदूषक—निश्चयना के करने से तो मादूम होता है कि पाणिग्रहण के  
पहले ही उसने आत्मसमर्पण कर दिया ।

राजा—उसने एक चार-पदी का इलोक उपहार-स्वरूप भेजा है ।

विदूषक—तो कृपा कर प्रिय मित्र पढ़ें ।

राजा—( पढ़ता है )

यों तो सुवाक्यता क्लिप्त अङ्ग को विशेष सौन्दर्यपूर्ण नहीं कर देता,  
तथापि नेशों में एक अपूर्व चातुर्यपूर्ण प्रगल्भता का देता है। नेशों  
से कित्ते देखा गया—उत्काट उसके मनोगत हनस्त भावों को ये समझ



यदादत्ते दृश्यादखिलमपि भावव्यतिकरं

मनोवृत्तिं द्रष्टुः प्रथयति च दृश्यं प्रतिजनम् ॥ १२ ॥

किञ्च—

स्वकण्ठकाण्डान् मुद्गशोऽवतार्य,

स्वप्नेऽर्पितो यो मम कन्धरायाम् ।

पुनर्मया तत् कुचसीम्नि मुक्तो,

हारः स तु प्राभृतमद्य जातः ॥ १३ ॥

विदूषकः—भो किं चि रहस्यं पुच्छीअसि। (भो: किञ्चिद्रहस्यं पृच्छ्यसे।)

राजा—कश्यते ।

विदूषकः—मिअंकावली कुवलअमालाणं किं अंतरं? (मृगाङ्कावली-कुवलअमालयोः किमन्तरम्?)

राजा—आस्ताम्, पर-कलत्रं हि सा वर्तते ।

विदूषकः—भो पत्थिव, अणाभिण्णोऽहम् । जेण लण सालभज्जा अट्टमज्जेति भगिदा । ता कहेसु केत्तिअं अंतरं मिअंकावली-कुवलअ-

लेजे हैं और जिसने देखा—उसका भी मनोवृत्ति को देखे गये मनुष्य से ये बता देते हैं । इस प्रकार दोनों (द्रष्टा और दृश्य) को परस्पर एक दूसरे को अपने-अपने हृदगत भावों को गुप्तरूप से बतलाने में ये नेत्र बड़े सहायक होते हैं ॥१२॥

और

सुनयना ने अपने कण्ठ से उतार कर जो हार मेरे गले में स्वप्न में अर्पित किया था, मैंने उठे पुनः जो उसके कुचप्रदेश पर डाल दिया—वह उस स्वप्न मेरी तरफ से भेंट—स्वरूप हो गया ॥१३॥

विदूषक—कुछ रहस्य की बात पूँछता हूँ ।

राजा—कहूँगा ।

विदूषक—मृगाङ्कावली और कुवलयमाला में क्या अन्तर है ?

राजा—रहने दो, वह ( कुवलयमाला ) परायी ली है ।

विदूषक—राजन् ! सारे की लीं अपनी आधी लीं कही गई है, क्या मैं

नालागं ? ( मोः राशिष ! अन्तर्निर्गच्छन् । येन पुनः अन्तर्गतो अर्धनाशिते  
नागिदा तस्मात् कथम् किञ्चन्तरं नृगांकावत् कुञ्चन्नादयोः । )

राजा—आवदन्तरं नृगांकावलीकुञ्चन्नादयोः ।

विद्वपकः—ओ पुणो भगिदेव किं नागिदं होदि ? ( मोः पुनर्नागिदेव किं  
नागिदं भवति । )

राजा—उहिं उष्टान्तान्तरेण कथ्यते , आवदन्तरं पन्तारागुरतापोः  
विद्वपकः—कुञ्चन्तरं जागीअदि । ( कुञ्चन्तरं अण्णे । )

राजा—मान्पते—

लादीअन्तर्गतं कुञ्चन्तरं वीद्वंवांतिमो कुञ्चली  
पूर्वा रत्नपी दिमति रत्नान्त्या तु कुञ्चानपीम् ।

इत्थं द्वे जपि ते पितासत्तदने देवत्वं देवोक्तुम् ।

श्राव्याः किन्तु नितान्तनिर्दिष्टजगत्तावन्पत्तानोदयः ॥१४॥

इतना नहीं जानता। तो बताओ नृगांकावली और कुञ्चन्नाद में कितना  
अन्तर है ?

राजा—कितना अन्तर नृगांकावली ( चन्द्रमा ) और कुञ्चन्नादा ( नक्षत्र  
कण्ठ ) में ।

विद्वपक—उन्नी को रोहरा कर कहना क्या करना हुआ ?

राजा—तो हृत्प उदाहरण देकर बरता हूँ. कितना अन्तर कर्पूर और  
अगर में होता है ।

विद्वपक—अच्छी तरह जानता हूँ ।

राजा—कर्मो—

छायां ( छात्रदेश को रत्नो ) चन्ना के कन्धन रोरे अर्द्धावली है इत्थं  
कुञ्चली ( कुञ्चन्तदेश को मो ) कुञ्च को नाति नावते अर्द्धावली है । नाटी  
( वाटी ) रत्नो से गृह्यार कर्ता है और कुञ्चरी ( कुञ्चलो ) नाटिनी से ।  
इस प्रकार दोनों जानदेव को कोठान्ति है, किन्तु छाया को कन्धन रत्नो को  
नाति अर्द्धावली अर्द्ध अन्धनात् है ॥१४॥

सखे, पुनर्निरूपय, तदनुपपन्नमिव, तामेवेमां यदुतात्मान् देवी परिणाययिष्यति ।

विदूषकः—ण कसु दिट्टे अणुवण्णं णाम । ( पुरो दर्शयन् ) संबन्धिणी-चेटीओ दीसंदि आजच्छंतीओ । ( न खलु दृष्टे अनुपपन्नं नाम । सम्बन्धिनीचेष्ट्यो दृश्यते आगच्छन्त्यः । )

राजा—का पुनस्ते सम्बन्धिनी ?

विदूषकः—देवी ।

राजा—( विहस्य ) तदेहि चित्रशालिकामधितिष्ठावः ( तथा तिष्ठतः )  
( ततः प्रविशन्ति नेत्रपटलरुहस्तश्चेत्यः । सर्वाः परिक्रामितकेन )

एका—हला कुरंगिके ! काहि ण महाराओ पेक्खिदब्बो । ( हला कुरंगिके ! क्व पुनर्महाराजः प्रेक्षितव्यः । )

द्वितीया—सहि, तरंगिए जहि आसण्ण-विवाहको उहलहलहलकु-रिदो जणो दीसइ । ( सखि तरंगिके, यात्राऽऽसन्नविवाहकौतुहलहल-हल-स्फुरितो जनो दृश्यते । )

सखे ! देवी उसी सुन्दरी के साथ मेरा जो विवाह करेगी—अभी तक वह हुआ नहीं, पता लगाओ—क्या बात है ।

विदूषक—( सामने की ओर दिखाता हुआ ) सम्बन्धिनी और दासियों आती हुई दिखाई दे रही हैं ।

राजा—तुम्हारी सम्बन्धिनी कौन ?

विदूषक—महारानी जी ।

राजा—तो आओ हम तुम चित्रशाला में बैठे । ( दोनों वहाँ बैठते हैं )

( इसके बाद हाथ में शृंगार-सामग्री का टोकरी लिए दासियों रंगमञ्च पर आती हैं ) ।

( सभी घूमने का अभिनय कर )

एक—कुरंगिके ! महाराज कहीं मिलेंगे ?

दूसरी—जहाँ ऐसा आदमी दिखाई देता हो, जिसके हृदय में विवाह निकट होने से कौतुहलवश हड़कम्प मची हो ।

अन्वा—अइ मुलकखणे किं विअ लकखणं मन्तीअदि । जइो सहस्राणं पाणि ग्गाहिदस्त को विअ कोउहलहलहलो । ( अइ मुलकखणे ! किनिव लक्षणं मन्त्यते । यतः सहस्राणां पाणि आदित्तत्त्व क इव कौहल-हल-हलकः ! )

अन्य—पिअवअस्से, विअकखणासि किं पुं क्तु अगभिण्णासि कंटापचरिआणं जं दागी णवं णवं फोउहलं कामि-जणे । ( प्रियवपत्ये ! विचक्षणसि, किन्तु खल्वनभिज्ञासि कन्तर्पंचरितानाम् ? यदिदानीं नवं नवं कौहलं कामिजने । )

विचक्षणा—( पुरतोऽवलोक्य ) एस भट्टा पंडरपरिक्रामो पआहपूणिमाचन्दो विअ सणिचचराणुगओ अज्जचाराअणुदिओ चित्तसालादुधादहेसे दीसइ । ( एष भर्ता पाण्डुरपरिधानः प्रमातपूणिमाचन्द्र इव शनैश्चरानुगत आर्यचारपणदिलीपरिचित्रराज्याद्वारोद्देशो हस्यते । )

हृ०—( उपसृत्य ) जेटु भट्टा । देवी विण्णवेदि, आमण्णं विवाह-लग्नं । ता इमं विवाहणेवच्छमंगलं करिअ अविट्ठीअंदु विवाहचउक्किया । ( चन्तु भर्ता । देवां विशापयति, आसन्नं विवाहलग्नं तस्मादिदं विवाहनेस्यमंगलं कृत्वाऽपिष्टीयतां विवाह-चतुष्किका । )

अन्वा—अरी मुलकखणे ! यह कौन सा लक्षण बता रही है । बिसने हवायों के साथ विवाह किया, उसे कौहलकवय क्या हड़कम्प होगी ।

अन्य—प्रिय सखि ! नाम से ही तुम विचक्षणा हो किन्तु कामदेव के चरित्रों को झिञ्कल नहीं जानती हो । अरे, ऐसे अवसर पर कामी पुरुष में नया नया कौहल होता है ।

विचक्षणा—( सामने देखकर ) पीछे अंतर दुर्बल स्वामी जो, शनैश्चर सहित प्रमात कालोन पूणिना के चन्द्र के समान, आर्य चारपण के साथ चित्रशाला के झार पर दिखाई पड़ रहे हैं ।

हुरकिका—( निकट जाकर ) स्वामी की खबर हो ! महारानी जी यह रही है—विवाह-लग्न निकट है, तो आप विवाह के समय का शुभ वत्साभूषण धारण कर विवाह की चोकी पर बैठें ।

पत्नी—यथाह देवो, शान्तम्, यदादिशति देवी ।

विदू०—( आत्मानं निर्दिश्य ) संबंधिजगाणुरूपं भुञ्जं किं पि किद् ?  
( सम्बन्धिजनानुरूपं भोज्यं किमपि कृतम् ? )

स्वर्गः—अरं दृष्ट्वासाधो । ( अरं दक्षिणामहे । )

विदू०—किं विअ तं । ( किमिदं तत् । )

कुर०—जं कंकलितरु दोहले लहेइ । जं वा भअवन् तिणअगो ।  
सोसे समुव्वहइ । ( यत् कङ्कलितवज्रोहदे लभते, यद्वा भगवात्त्रिनयनः शीर्षे  
समुद्रहति । )

विदू०—( दण्डकाष्ठमुच्यम् ) दासीओ महाराजपिअवअस्सं पिंगल्लिआ  
बल्लगी सिमुत्तगवल्लहपंडिअं सिमुअदिण्णविज्जं चाराअण्यल्लगं  
अहिक्खिअवथ । ता इमिणा तुहारिसचेडीअणचित्तकुडिलेग दंडकट्टेण  
भुअगजगजुगुच्छिआइं वजणाइं कारिस्सं । ( दास्यः, महाराजप्रियवचस्व  
पिङ्गल्लिकाब्राह्मणीशिशुत्वबल्लमपण्डितं शिशुदत्तविशं चारायणब्राह्मणमधिष्ठिपथ ।  
तस्माद्गुना युष्मादश्चेयंजनचित्तकुडिलेन दण्डकाष्ठेन मुजगजनजुगुप्सितानि  
वदनानि करिष्यामि । )

राजा—जैसा देवी जी कह रही हैं—शान्तम्—( अरे नहीं ) जैसा देवी का  
आदेश है ।

विदूषक—( अपने को निर्दिष्टकार ) सम्बन्धिजनों के अनुरूप कुछ भोजन  
की तैयार किया है ?

स्वर्गी दासियों—अर (पहिंये की नामि अर नेमि के बीच की लकड़ी) देगो ।

विदूषक—वह क्या ?

कुरङ्गिका—अशोक वृक्ष जो दोहद के समय पाता है ( अर्थात् चरणाघात )

। अपना भगवान शंकर जिसको शिर पर धारण करते हैं (अर्थात् चन्द्र—अर्थात् गज  
पंख कर निकाल देना )

विदूषक—दासियों ! जो महाराज का प्रिय मित्र, पिंगल्लिका ब्राह्मणी का वच-  
न से ही प्रेमां पण्डित और जिसने वच्चों की विद्या दी, उस चारायण ब्राह्मण का  
उन तिरस्कार कर रही हो । तो तुम्हारी प्रेमां दासियों के चित्त की भौंति कुटिल  
( देवे ) इस दण्ड से तुम लोगों का मुँह कुचकूँगा ।

तरं—मरिसेदु मरिसेदु अञ्जो । संवधिओत्ति देवीविलासिगीओ वक्करं करेन्ति । ( मर्पयतु मर्पयत्तार्यः । सम्बन्धिक इति देवीविलासिन्दरचोदं कुर्वन्ति । )

अन्या—अलं वक्करेण, दुव्वासो अञ्जचाराअणो । ( अलं चोद्येन, दुवांसा आर्यचारायणः । )

विदू०—( विद्वत् ) संपदं एव्य सुवासो हुविरसदि । ता विवाहमहूसवं करेहा । सुलक्षणे हारलट्टिए फलअट्टि वसन्तलए लवंगिए कामकेलि हारकेलि मिअंरूपहे रहंगि सामलंगि बड्डावालि पट्टणो अघसर विअ-  
दसणं करं कंकेण-वंधेण विरएध विआहदिवत्तं । ( सांभतमेव सुवासा भविष्यति । तस्माद् विवाहमहोत्सवं कुर्मः । सुलक्षणे, हारपट्टिके, फलकण्टि, वसन्तलते, लवङ्गिके, कामकेलि, हारकेलि, मृगाकप्रमे, रथाङ्गि, श्यामलाङ्गि, वकुलावलि, प्रमोदसरविचक्षणं करं कंकेणदन्वेन विरचयत विवाह-टीक्षाम् । )

( सर्वा उपसृत्य रत्नवासःकंकणकुमुमादिकमुपनयन्ति )

राजा—नाट्येन पग्धिसे ।

विदूषकः—( उदवधिष्टेन समालम्भनादिनात्मानं मण्डयति । )

धरद्विक्त्रं—आर्य क्षमा करें, क्षमा करें । आप सम्बन्धी हैं, इसलिए महारानी को टासिर्षा हँसी कर रही हैं ।

अन्या—हँसी बन्द करो, आर्य चागयण दुवांसा हैं ( १—दुवांसा की तरह क्रोधी, २—बुरे परशों वाला )

विदूषक—( हँसकर ) अभी ही सुवासा ( सुन्दर बर्तों वाला ) हो जायेगा । तो आओ हम लोग विवाहोत्सव करें । सुलक्षणे ! हारपट्टिके ! फलकण्टि ! वसन्तलते ! लवङ्गिके ! कामकेलि ! हारकेलि ! मृगाकप्रमे ! रथाङ्गि ! श्यामलाङ्गि ! वकुलावलि ! स्वामी के अवसर विचक्षण हाथ को वद्वण-दन्वयन से सुसोभित कर विवाहार्थ दक्षित करो ।

( सब टासिर्षा पास ब्लाकर रत्न, वस्त्र, वद्वण एवं कुमुम आदि रखती हैं )

राजा—( अभिनय के साथ धारण करता है । )

विदूषक—( राजा के उपयोग से बचां लेरनादि सामग्रों से भरना मण्डन करता है । )

विच०—भोदियो किं विलम्बेण, आरम्भरमणिज्जाइं कल्लाणाइं होन्ति । ता एत्थ गाएष णच्चय । ( भवत्यः किं विलम्बेन, आरम्भरमणीयानि कल्याणानि भवन्ति, तस्मादत्र गायत नृत्यत । )

विदू०—भो एदाणं मत्थे अहं वि गाइस्सं णच्चिसअं अ । ( भो एतासां मध्ये अहमपि गास्यामि नर्तिष्यामि च । )

राजा—यदभिरुचितं भवते ।

( विदूपकेण सह सर्वां नृत्यन्ति गायन्ति च )

( नेपथ्ये )

हंहो मुल्लधणामिस्साओ, किं विलम्बेण, आणेय महाराअं सपरि-  
वारा देवी संपत्ता ज्जेय । ( अहो मुल्लधणामिथाः, किं विलम्बेन, आनयत  
महापत्न्यम्, सपरिवाय देवी संप्राप्तैव । )

तरं—इदो इदो एट्ट महाराओ । [ सर्वे परिक्रामन्ति ] ( इत इत एतु  
महापत्न्यः । )

( ततः प्रविशति ययानिर्दिष्टा देवी, कृतमन्त्रेण मुगाङ्गावली [ कुवलय-  
माला च ] )

विचक्षणा—नुम लोग देर क्यों कर रही हो, शुभं शत्रिः कुयाति । ताम्बुल  
लोग गाओ, नाचो ।

विदूपक—मित्र ! इनके बीच में भी गाऊँगा, नाचूँगा ।

राजा—जो आपको अच्छा लगे ।

( विदूपक के साथ सब नाचती-गाती हैं )

( नेपथ्य में )

अरे मुल्लधणा आदि चेटियो ! क्यों देर कर रही हो । महापत्नी को  
ले आओ । अनुचर-अनुचरियों समेत महापत्नी आ ही रही हैं ।

तरङ्गिका—महापत्नी इधर, इधर आयें । ( सब धूमते हैं । )

( इसके बाद ययानिर्दिष्टा देवी, कृतमन्त्रेण मुगाङ्गावली, और कुवलयमाला )

देवी—( अनवार्य ) बच्छे कुबलयमाले, पेच्छ अत्तगो भट्टिणो  
सिलिट्टं महिलावेसं । ( बत्ते कुबलयमाले ! पत्ताऽऽत्तनो भर्तुः दिग्धं महि-  
लावेपन् । ) [ कुबलयमाला तन्मुली इति ]

राजा—( स्वगतम् )

दिवस इयस्मि सताप. सेन्दुर्यदनेन रात्रिवच्चैषा ।  
इदमपि चान्तरचितं रत्नशुकमापयोः सन्ध्या ॥ १५ ॥

देवी—अज्जउत्त, उग्घालीअट्टु मुहं न्त, इयेदु भवणगव्भे चंदा ।  
( आर्यपुत्र ! उद्घाटय मुक्तमस्याः उदेतु भवनगर्भे चन्द्रः । )

राजा—( उपविश्य तथा कृत्वा स्वगतम् )

नयनच्छलेन सुतनीर्षदनजितदाशिनि कुले विभोर्वाधान् ।  
नासानालनिवद्धं स्फुटितामिन्दोवरं द्वेषा ॥ १६ ॥

देवी—बत्ते मिअंकावलि, कुण वारामेलअं, वित्तारअ कुबलय-  
संधरं । ( बत्ते मृगाह्लावलि ! कुण वारामेलनन्, वित्तारय कुबलयसंत्तरन् । )

देवी—( रौंकर ) बत्ते कुबलयमाले ! अरने पति दाय यथांत मारिला-  
वेप देतो । ( कुबलयमाला उसकी ओर मुख करके हैंसती है )

राजा—( स्वगत )

मैं तापयुक्त दिन-सा हूँ और यह मुख के कारण चन्द्रयुक्त रात्रि की भाँति  
है । हम दोनों के बीच यह लाल वस्त्र सन्ध्या की भाँति है ॥ १५ ॥

देवी—आर्यपुत्र ! इसका मुख खोलो, भवन के भीतर चन्द्रमा उदित  
हो जाय ।

राजा—( बैठकर देखा करके स्वगत )

( इस मुन्दरी के ) मुख से पराजित चन्द्रमा में, कुलप्रभु ( चन्द्रमा ) के  
( इस पराजय के ) व्यापात के कारण, नैत्रों के बहाने मानो नासारूपी नाव  
से जुड़े हुए दो नौले कमल विकसित हो गये हैं ॥ १६ ॥

देवी—बत्ते मृगाह्लावलि ! वारामेलन करो, फमल ( नेत्रों ) को पंचायो ।



मृगां०—( लज्जावशादितत्ततश्चक्षुषो निधाय चिरमूर्च्छामवलीकृत्यति ) ।

राजा—( विलोक्य स्वगतम् )—

भवनभूमिं सृजन्तन्वारहारावतारं

दिशि दिशि विकिरन्तः चेतकानां कुरम्यम् ।

वियति विरचयन्तश्चन्द्रिकां मुग्धमुग्धां

वत नयननिपाताः मुधुवो विभ्रमन्ति ॥ १७ ॥

विदूषकः—( जनान्तिकेन ) एसा सा कुवलयमाला तुमं तिरिच्छेहि  
अच्छीहि पित्रदिद्व । ( एसा सा कुवलयमाला त्वां तिर्यग्भिरश्रिभिः  
निवर्तीव । )

राजा—एवमेतन्—

प्रणालीदीर्घस्य प्रतिकलमपाङ्गस्य सुदृढः

कटाक्षव्याक्षेपाः शिशुशफरफालप्रतिभुवः ।

दधानाः सर्वस्वं कुमुमधनुषोऽस्मान् प्रति सखे !

नवं नेत्राद्वैतं कुवलयदृशः संदधति च ॥ १८ ॥

मृगाङ्गावली—( लज्जावश इधर-उधर आँखें घुमाकर देर तक ऊपर की ओर देखती है । )

राजा—( देखकर स्वगत )

भवनभूमि पर मुक्ताहार का सृजन करते, प्रत्येक दिशा में चेतकी पुष्प-  
राशि विकिरते एवं आकाश में गौर मनोहारिणी चन्द्रिका विरचित करते हुए  
इस मुन्दरी के नेत्र घूम रहे हैं—प्रांति-द्योतक हाव-भाव कर रहे हैं ॥ १७ ॥

विदूषक—( जनान्तिक से ) कुवलयमाला तुमकी तिरछे नेत्रों से पं-सों  
रही है ।

राजा—हाँ ऐसा ही है—

नंले कमल के समान नेत्रवाली इस मुन्दरी के नालों की मूर्ति लम्बे  
अपाङ्ग के मित्र कयशों के व्याघ्र शत्रु मलयी के धरुओं के समान हैं ।  
इसके नवीन नेत्र अनुपम हैं । ये कयश, कानदेव के सर्वस्व नवीन अनुपम  
नेत्र की ( बाण की मूर्ति ) धारण कर, हमें लक्ष्य बनाकर सन्धान कर रहे  
हैं ॥ १८ ॥

किं पुनः परकलत्रमेपा ।

विदूषकः—लेहासत्तिप तुह एव्व एसा । ( रेखा-शक्त्या तवैवैया । )

देवी—( जनान्तिकं कुवलयमाला प्रति ) पेच्छ अत्तणो भत्तारं अज्ज-  
इत्तेण परिणिज्जभाणं । ( प्रकाशं ) संपदं भागरीओ कुगउ महाराओ,  
दिब्बज्जु अज्जपत्तलिदे हुदयहम्मि लाजाओ । ( पश्याऽऽत्मनो भर्तारम्  
आर्यपुत्रेण परिणीयमानम् । साप्रतं भ्रामरीः करोतु महाराजः, दीयन्त्यामाज्ज-  
प्रज्वलिते हुतवहे लाजाः । )

राजा—( परिणीयोपविशति ) ।

प्रतिहारी—( प्रविश ) देव, देवीमातुलस चन्द्रवम्मरस पहाणदूदुण  
सह अज्जभाउराअणो दुघारे चिद्धदि । ( देव ! देवीमातुलस्य चन्द्रवर्मणः  
प्रधानदूतेन सहाऽऽर्यभागुरायणो द्वारे तिष्ठति । )

राजा—( देव्या मुखमवलोकयति )

देवी—अविलंघिदं पविसदु । ( अविलम्बितं प्रविशतु । )

प्रतिहारी—( निष्क्रान्तः )

किन्तु यह तो पराई खों है ।

विदूषक—रेखा को शक्ति से—भाग्यदल से तुम्हारी ही यह है ।

देवी—( कुवलयमाला से कुसकुसा कर ) आर्यपुत्र द्वारा परिणीयमान  
अरने पति को देखो । ( उच्चस्वर से ) अब महाराज मौंवरें डालें, धृत से प्रज्व-  
लित अग्नि में लाजा ( खीले ) डालें ।

राजा—( विवाह करके बैठता है )

प्रतिहारी—( प्रवेश करके ) देव ! महारानी के मामा चन्द्रवर्मा के प्रधान  
दूत के साथ आर्य भागुरायण द्वार पर खड़े हैं ।

राजा—( महारानी का मुख देखता है । )

देवी—अविलम्ब अन्दर आये ।

प्रतिहारी—( चला गया )

( ततः प्रविद्यते भागुरायणो दूतश्च )

उभौ—जयतु जयतु त्रिलिङ्गाधिपो देवः ।

भागु—इतो लाटाधिपतेर्दूतः ।

राजा—उपविश ! निवेद्यतामपि कुशलं चन्द्रवर्मण ?

दूतः—देवानुग्रहेण

देवी—कुशलं मानुलाणीय हारलदाय ? ( कुशलं मातृशय्या हार-  
लदायाः ? )

दूतः—अथ किम् ?

देवी—अवि मुमेरदि मे गुरुजनो । ( अपि स्मरति मे गुरुजनः । )

दूतः—आत्मापि विस्मर्यते ? ( देवीं प्रति ) मानुलपुत्रजन्मना दिष्ट्या  
वर्धसे । ( सर्वे हर्षं नाटयन्ति ) संदिष्टं चास्मत्स्वामिना—

निसूनुना प्राक् परिकल्पिताऽभून्मया मृगाङ्गाबालिरेकपुत्रः ।

पुत्रावकल्पच्छलनोऽथ सेयमानायिता वः सचिबोभनेन ॥ १९ ॥

( इसके बाद भागुरायण और दूत प्रविष्ट होते हैं )

दोनों—त्रिलिङ्गाधिप देव की अय हो ।

भागु०—इधर ये लाटाधिपति के दूत हैं ।

राजा—बैठो, चन्द्रवर्मा का कुशल छेम बताओ ।

दूत—आपके अनुग्रह से सम्यक् कुशल है ।

देवी—मामी हारलता कुशल से हैं ?

दूत—हाँ !

देवी—क्या मेरे गुरुजन मुझे स्मरण करते हैं ?

दूत—क्या अपने को भी भूल जाता है !

( देवी के प्रति ) मामा के पुत्र-जन्म के लिए तुम्हें बधाई है । ( सभी हर्ष  
का अभिनय करते हैं ) हमारे स्वामी ने सन्देश दिया है—

पहले पुत्र-दान होने से मैंने मृगाङ्गाबाली को पुत्र प्रसिद्ध किया, और तुम्हारे  
सर्वे पुत्र-वेश में ही उसे यहाँ तुम्हारे पास ले आये ॥ १९ ॥

८ विः

जातः सम्प्रति मे कुलकतिलकः पुत्रस्तदेवा त्वया  
 भव्या कान्तिमती कलाभु कुशला केलि-प्रिया नीतिभूः ।  
 दैवज्ञोदितचक्रवर्तिगृहिणीभावा मृगाङ्गावली  
 देवा कस्यचिदिन्दुसुन्दरयशःपूतस्य पृथ्वीपतेः ॥ २० ॥

भागु०—( स्वगतम् ) फलितं नो नीतिपादपलतया धिया ।

विदू०—( हस्तमुद्यम्य ) भो दिग्गा परिणीदा अ एसा । किं ण पेद्वस्सि-  
 पभोट्टसट्टिदरत्तसुत्तकंकणं पिअवअरस्सस्स मिअंकावलीए अ, मण्हदं  
 दीक्खिदं वरं इत्थिअं अ । [ सर्वे वित्पयन्ते ] ( भो दत्ता परिणीता रिया ।  
 किं न पय्यामि प्रकौष्ठसस्मितरक्तसूत्रकंकणं प्रियवयस्यस्य मृगाङ्गावल्यादच । मण्डितं  
 दीक्षितं वरं क्षियञ्च । )

देवी—( जनान्तिरुम् ) पेकख देव्व-दुब्बिलसिदाई । जं मए केलिक्क-  
 मेण अलिअं परिकल्पिदं तं मच्चत्तणेण परिणदं । भोट्टु एव्वं दाव ।  
 ( प्रकाशम् ) मातुलसन्देसमन्तरेण वि मए परिणाविदा एव्व एसा ।  
 ( पश्य देव-दुर्धित्तितानि । यन्मया केलिक्रमेणालोकं परिकल्पितं तत् सत्येन  
 परिणतम् । भद्रत्वेन तावत् । मातुलसन्देसमन्तरेणापि मया परिणावित्तैसा । )

अब मेरे एक कुल-तिलक पुत्र हो गया, अतः तुम इस सुन्दरी, कला-कुशला,  
 केलि-प्रिया, नीतिशा मृगाङ्गावली का विवाह चन्द्र के समान उज्ज्वल यश से  
 पवित्र किसी राजा के साथ कर दो । इसके विषय में दैवज्ञों ने यह बताया है कि  
 यह चक्रवर्ती की गृहिणी होगी ॥२०॥

भागु०—( स्वगत ) हमारी नीति वृक्ष पर आरुढ़ बुद्धि-लता फलवती  
 हो गई ।

विदूषक—( हाथ उठाकर ) अरे यह दे दी गई और विवाहित भी हो  
 गई । क्या प्रियमित्र की और मृगाङ्गावली की कलाई में बँधे लाल डोरे के बहाने  
 और सजाये-सँवारे एवं दीक्षित वर-वधू को देख नहीं रहे हो ?

देवी—( फुसफुसाकर ) देव का नखरपना तो देखो । जो कुल मैंने  
 विनोदार्थ झूठ-भूट किया, उसे ठमने स्वरूप में परिणत कर दिया । अच्छा  
 ऐसा ही सही । मामा के सन्देश के दिना भी मैंने हमका विवाह कर ही दिया ।

दूतः—देवि, भवाद्दशीनां बुद्धयो यदृच्छयापि प्रवृत्ताः कार्यमनुकन्धानाः परिणमन्ति ।

विदू०—( जनान्तिकेन ) भो, देवी एव पुरो ववसिदा । ( भो देव्यैव पुरो व्यवसिता । )

राजा—तथैव । अनुगुणं हि दैवं सर्वस्मै स्वस्ति करोति ।

देवी—( जनान्तिकेन ) हला अहो कञ्जवाहिरिल्लीओ, एदाणं उण साणुबंधाणं रसपबंधो । ( हला, वयं कार्यवाहाः, एतयोः पुनः सानुबन्धयो रसप्रपञ्चः । )

मेखला—जधा एव देवीए महानुभावत्तणं अंगीकिदं तह एव जिब्धाहं करीअट्टु । किं गदे सलिले सेतु-बंधेण ? किं वा वुत्ते विआहे णक्खत्त-परिक्खाए ? ( यथैव देव्या महानुभावत्वमङ्गीकृतं तथैव निर्वाहः क्रियताम् । किं गते सलिले सेतुबन्धेन । किं वा वृत्ते विवाहे नक्षत्रपरीक्षया ? )

विदू०—अहो अमरुच्चूडामणे, अहिणवचाणक्क, भअयं भाउराएण, एसा चि कुवलअमाला पिअवआसस्स एव्व, जदो महामुणिओ एव्वं भणंति—( अहो अमात्यचूडामणे ! अभिनवचाणक्य ! भगवन् भागुरायण ! एसापि कुवलयमाला वयस्यस्यैव । यतो महामुनय एवं भणन्ति )

दूत—देवि ! आप ऐसी देवी की बुद्धि अपनी मनमानी भाँ प्रवृत्त होकर परिणामतः अनुकूल सिद्ध होती है ।

विदूषक—( फुसफुसाकर ) अरे देवी पहले ही तत्पर हो गई ।

राजा—हाँ, ऐसा ही है । अनुकूल दैव सबका कल्याण करता है ।

देवी—( फुसफुसाकर ) अरे, हम तो केवल कार्य के साधन हैं, इसमें शास्त्र में अविच्छिन्न एवम् परस्पर अनुबद्ध इनका प्रेम-विस्तार मुख्य है ।

मेखला—महारानी ने जैसे महानुभावता अङ्गीकार किया है, वैसे ही इसका निर्वाह भी करें । पानी के न रहने पर पुल बंधना व्यर्थ है अथवा विवाह होने पर नक्षत्र देखना बेकार है ।

विदूषक—हे अमात्यशिरोमणे ! अभिनव चाणक्य ! भगवन् भागुरायण ! यह कुवलयमाला भी मित्र की ही है । क्योंकि महामुनि लोग कहते हैं—

भञ्जा दासो अपुत्रो अ णिद्वणा सअला वि ते ।  
 जं दे समभिगच्छन्ति जस दे तस्स तं घणं ॥ २१ ॥  
 ( भार्या दासश्च पुत्रश्च निर्धनाः सकला अपि ते ।  
 यं ते समभिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ २१ ॥ )

दूतः—अहो ! स्मृति-वैशद्यं नर्मसचिवस्य चारायणस्य ।

मागु०—यथाह चारायणः । किं न्वनेनैव वङ्कगादिना देवो परिणाय-  
 गन्वेनागपि ।

विदू०—जह समत्येदि महामच्चो । ( यथा समर्पयते महाभात्यः । )  
 ( कुबलयमालाया इत्तं गृहीत्वा राजहस्ते विनिवेश्य ) एसा सालभञ्जा  
 अद्भभञ्जति बुद्धिदि भवदो उग सअल-भञ्जा संवुत्ता । [ तपे इत्तन्ति । ]  
 ( एसा इपालभार्या अर्धभार्येति बुध्यते, भवतः पुनः सकलभार्यां संवृत्ता । )

देवी—( सदिलक्षं स्मयते )

विदू०—( चेटीः प्रति ) भोदीओ ! णत्थध, गायय अहं पि नश्चिम्मं  
 गाइस्सं । जदो विआहे संपदं संवुत्तं । [ तथा कुर्धन्ति ] ( भवत्यो वृत्तव  
 गायत, अहमपि नर्तिष्यामि गास्यामि च, यतो विवाहे सांप्रतं संवृत्तम् )

भार्या, दास और पुत्र ये सब बेचारे निर्धन जिसके पास जाते हैं और  
 जिसके द्यो जाते हैं, उसके धे घन होते हैं ॥ २१ ॥

दूत—अहो, श्रीडा सचिव नारायण की स्मरण शक्ति की स्वच्छता

मागु०—चारायण ठीक ही कह रहे हैं, क्यों न इसी वङ्कग आदि से देवो  
 कुबलयमाला को भी ब्याह दें ।

विदूषक—( कुबलयमाला का हाथ पकड़कर राजा के हाथ पर रखकर )  
 यह साले की पत्नी भार्या समझी जाती है और आरकी तो यह पूर्ण भार्या  
 हो गई ।

देवी—( विस्मय एवं लज्जापूर्वक मुस्कराती है )

विदूषक—( दासियों से ) आप लोग गाइये, नाचिये । मैं भी गाऊँगा और  
 नाचूँगा क्योंकि विवाह अब सम्पन्न हो गया ।

मृगां०—( अन्वयार्थं सहर्षम् ) कुवलयमाले ! परिरभसु मं, कलत्तं नविम्य सवत्ती संवुत्ता । ( कुवलयमाले ! परिरंगस्य मां, कलत्तं भूत्वा सपत्नी संवृत्ता । )

भागु०—( दक्षिणाधिसरन्दं सूचयित्वा जनान्तिकेन ) न जाने किं पुनर्हर्ष-  
कारणम् ।

( प्रविश्य ) प्रतिहारी—देव ! वच्छाहिव ! सेगावदिणो आभदो कुरंगओ लेहहत्वओ दुआरे चिट्टइ । ( देव ! वत्साधिभ ! सेनापतेरागतः कुरंगको लेखहत्वो द्वारे तिष्ठति । )

भागु०—प्रवेशयताम् ।

प्रतिहारी—तथा । ( निष्क्रान्ता )

ततः प्रविशाति कुरङ्गकः । ( प्रगम्य ) जेट्टु भट्टा । ( वयसु भर्ता )—  
( लेखं प्रक्षिपति । )

भागु०—( गृहीत्वा वाचयति )

स्वस्ति श्रीमास्त्रिपुर्यां तुहिनकर मुनावीचिवाचालिनायां  
देवं केयूरवर्षं विनयनतशिराः सर्वसेनाधिनाथः ।

मृगाङ्गावली—( दाँककर सहर्षं ) कुवलयमाले ! मुझे हृदय से लगाओ, पत्नी होकर अब सपन्नो हो गई ।

भागु०—( दाहिनी ओँल का पड़कना सूचित कर फुसफुसाते हुए ) न जाने अब दूसरा हर्ष का कौन सा कारण होगा ।

प्रतिहारी—( प्रवेश कर ) हे वत्साधिभ देव ! सेनापति के पास से आया हुआ कुरंगक हाथ में पत्र लिए द्वार पर खड़ा है ।

भागु०—अन्दर ले आओ

प्रतिहारी—बहुत अच्छा ( निकल गया )

( इसके बाद कुरंगक मञ्च पर आता है ) ( प्रणाम करके ) स्वामी की जय हो ।  
( पत्र देता है )

भागु०—पत्र लेकर बाँचता है ।

नर्मदा नदी के लहरों से प्रतिध्वनित त्रिपुरी नगरी में केयूरवर्ष महाराज श्री, सेनापति श्रीवत्स वात्सगुल्मि विनयपूर्वक शोभा छुकाकर सुरज चनों की

श्रीवत्सो वात्सगुल्मिर्गुरजजनवधूलोचनेरर्च्यमाने

पादद्वन्द्वारविन्दे प्रणमति रचयन्नञ्जलिं मूर्ध्नि भक्त्या ॥ २२ ॥

श्रेयोऽन्यत्कार्यं च लिख्यते—भलचुरिकुलैकतिलकस्य प्रसादेन, भागुरायणस्य मतिपेशधेन मादृशां च पदातिलवानामादेशनिर्घहणेन राचीप्रतीच्युदीचीदिग्विलग्नेन सर्व एव राजानध्रण्डवृत्तायो दण्डोपननाः स्थिताः, केवलमवाचीक्षिति-पतयो दृष्यन्ति स्म । तत्रापि विनिवेद्यते । तत्कृत्यापहतराज्यः कुन्तलाधिपतिर्वीरपालो नाम देवं शरणमागतो देवादेशाच्च तं पुरस्कृत्य ययं पपोष्णी-परिसरे समावासिताः । तत्र च—

कार्णाटो युद्धनाट्ये चतुरतरमतिः सिंहलः सिंहकर्मा,

पाण्ड्यध्रण्डासियाप्रिर्मलयनरपतिः कामुकप्रौढबाहुः ।

आन्ध्रो नीरन्ध्रभारः समरभुवि परः कुन्तलः कुन्तशाली,

किं चान्यन् कोङ्कणाद्या आप नरपतयः संयताः संघत्तिम् ॥२३॥

अत्रान्तरे तेः सहाम्मदीयानामपि महान् मर्मभः प्रवृत्तः ।

राजा—समरभुवि निसर्गोद्भूटा एव कण्टकाः ।

वधुटियों के लोचनों से अचित होने वाले दोनों चरण कमलों में शिर पर बञ्जलि बाँधकर भक्तिपूर्वक, प्रणाम करता है ॥ २२ ॥

यहाँ पर कुशल है और कार्य लिखा जा रहा है—कलचुरि कुल के तिलक महाराज की कृपा से, भागुरायण की बुद्धि की विशदता से एवं मुक्त जैसे अकिञ्चन पदातियों के आदेश-पालन से पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में रहने वाले सभी दुराचारी राजा दण्डित किए गए । केवल दक्षिण दिशा के राजा अभी बचिंत हैं । उनके बारे में भी निवेदन कर रहा हूँ—कुन्तलाधिपति वीरपाल आपकी शरण में आया । उसका राज्य अपहृत कर लिया गया है । आपकी आज्ञा से उसको आगे करके हम पपोष्णी के तट पर रहे । यहाँ युद्ध के नाटक में चतुरमति वाला कार्णाट देश का राजा, सिंहल का राजा सिंहकर्मा, पाण्ड्य का राजा, ध्रण्ड तन्वार वाला मलय देशाधिपति; ये कामुक विद्या में निपुण हैं । आन्ध्र देश बड़ा ही रत्नशाली है, कुन्त से युक्त कुन्तल पृथ्वी में अद्वितीय है । कोकण आदि देश के राजा भी एक दूसरे से मिल गए ॥ २३ ॥

इसी बीच में उन सबों के साथ हमारे सैनिकों का महान् संगर्ष हुआ ।

राजा—स्वभाव से ही वीर समरभूमि के कण्टक हैं ।



भागु०—वाचयति तत्र च—

प्रेयान् मे दन्तिदन्तप्रवसदसुर्यं बल्लभो मे विपश्चः

कुन्तप्रोतोऽपि योऽयं सरति मम रुचिस्ताण्डवीयः कवन्धः ।

अत्रास्मत्प्रेमवद्धभ्रुकुटिमुखमिदं यस्य लूनेऽपि कण्ठे

युद्धे देवाङ्गनानामिति वर-वरणे न श्रुताः केन वाचः ॥ २४ ॥

किं च बहुना तान्विजित्यास्माभिः स्वराज्ये वीरपालोऽभिषिक्तः  
शेषः कुरंगकमुखादेवावगन्तव्यः ।

कुरं०—देव पट्टए घट्टस वि मे मुहे अत्थि ण वाणी । ( देव, पट्टके  
वृत्त्यापि मे मुखेऽस्ति न वाणी । )

राजा—लेखमुखा एव लेखवाहा भवन्ति ।

भागु०—तदधुना

आ गंगापातपूतप्लुतनलिनतलात्पूर्वतस्ताम्रपर्ण्या

पृतादा दाक्षिणात्यात् तुहिनकरसुता बल्लभादा प्रतीचः ।

नृत्यञ्चण्डीशशुण्डाच्युतविबुधनदीनन्दितादा च देवः

क्षीराम्भोधेरुदीचः खलचुरितिलको वर्तते चक्रवर्ती ॥ २५ ॥

भागु०—पड़ता है । और वहाँ

कुन्त से गुँथा हुआ होने पर भी जो कवन्ध मेरी रुचि के अनुसार  
ताण्डव कर रहा है, कण्ठ के कट जाने पर भी हमारे प्रेम से जिसने अपनी  
भाँहों को टेढ़ा कर रखा है, इस प्रकार ऐसा शत्रु हमारा प्रिय है जिसका प्राण  
हमारे हाथियों के दाँतों से निकल गया है ।' इस प्रकार वरण करने के लिए  
आयी हुई अप्सराओं का वार्तालाप किसने सुना है ॥ २४ ॥

और अधिक कथा, उनका जीतकर स्वराज्य में हमारे द्वारा वीरपाल का  
भिषेक किया गया है और शेष कुरंगक के मुख से सुनिये ।

कुरंगक—पट्ट पर रगड़ने पर भी मेरे मुख से बात नहीं निकल सकती ।

राजा—पत्र-वाहक का मुख पत्र ही होता है ।

भागु०—तो इस समय

पश्चिम में गंगा जाँ के उद्गम से लेकर पूर्व में ताम्रपर्णा तक, पश्चिम  
दक्षिण प्रदेश से पश्चिमो समुद्र तक और दंकर जाँ को जगओं से गिरी हुई  
गंगा जाँ के द्वारा अभिनन्दित उत्तरी क्षीरमागर तक कलचुरितिलक हा  
चक्रवर्ती सम्राट् हैं ॥ २५ ॥

( राजानं प्रति अञ्जलि बद्धा ) किं ते भूयः प्रियमुपहरामि ।

राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति ?

देवीकोपकपायितं न गमिता लब्धा मृगाङ्गावली

प्राग्गृहापि मयाद्य सा कुलपतेः पुत्री च पाणौ कृता ।

युष्मन्नोति-बलेन तस्य च महासेनापतेर्विक्रमैः

संजाता मम चक्रवर्ति-पदवी किल्लाम यन् प्रार्थये ॥ २६ ॥

तथापोद्गमस्तु ( भरतवाक्यं )

वामाङ्गं पृथुलस्तनस्तवकितं यावद्भवानीपते-

लक्ष्मीकण्ठपरिमहव्यसनिता यावच्च दोष्णां हरेः ।

यावच्च प्रतिमाप्रसारणविधिव्यग्री करौ ब्रह्मणः

स्येयामुः श्रुतिदुक्तिलेखमधुरास्तावत् सतां सूक्तयः ॥ २७ ॥

( इति निष्क्रान्ताः सर्वे )

इति श्रीमद्वाल्मीकिरामायणराजसोत्तरविंशतिपायां

विद्वशालभञ्जिकानाटिकायां चतुर्थाऽङ्क

• १ • नाटिका च समाप्तमगात् ।

( राजा के प्रति हाथ जोड़कर ) आपकी पुनः क्या प्रिय उपहार हूँ ?

राजा—इससे भी बड़कर कोई प्रिय है ?

रानी कोप से विकृत नहीं हुई और मृगाङ्गावली मिल गई । पहले से विवाहित कुलपति की वह पुत्री शायं में कर ली गई है । तुम्हारी नोति-बल से और सेनापति के विक्रम से मुझे चक्रवर्ती की पदवी मिली । अब वर कौन सा बस्तु है, जिसकी प्रार्थना करूँ ॥ २६ ॥

फिर भी यह हो । ( भरत वाक्य )

जत तक शिव जी का वामाङ्ग पान स्तनों से स्तवकित है, भगवान् विष्णु की भुजाओं में लक्ष्मी के आलिंगन का उद्योग है, ब्रह्मा के दोनों हाथ अपनी प्रतिमा के प्रसार के लिए व्यग्र हैं, तब तक कानों की सीरों में चाटने योग्य सजनों की मधुर स्मितियाँ अमर रहें ॥ २७ ॥

( सभी चले जाते हैं । )

समाप्तभाष्यं ग्रन्थः

★

## विद्वशालभञ्जिका-

### परिशिष्टम्

#### पात्रालोचन

##### १. विद्याधरमल्ल

नाटिका के विधानानुसूल सम्राट् विद्याधरमल्ल इस नाटिका का धारललित नायक है । इसमें तथाविध नायक के सभी गुण विद्यमान हैं । यथा—

यह अन्यन्त ही शृंगारी है । मृगाट्कावली के प्रति आसक्ति रखते हुए भी वह पहली रानी के प्रति अपने व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आने देता । इसका स्वभाव अन्यन्त मृदु है एवं यह मीतादि में अदुराग रखता है । मागुरायण मंत्रों के ऊपर राज्य-भार छोड़ देने से राज्य की विवेक रहता है । विद्याधरमल्ल के प्रेम में जो उन्मादकता है वह जगह-जगह फैलता है जो आस्वाद्य है ।

##### २. विदुषक

नायक का मित्र चारायण ( विदुषक ) नाटिका का प्राण है । नाटिका में इसका मुख्य कार्य विनोद-दान ही है । यह अपने कल्प एवं भाषण आदि के द्वारा हास्य की अभिव्यक्ति करता है । यह राजा के साथ भी मजाक करने में नहीं चूकता । ब्राह्मण जाति का होने से यह स्वभावतः पेटू एवं मधुरश्रिय है । इसे अपने मान-अपमान का भी सदैव ध्यान रहता है । बदला लेने की भावना भी इसमें पर्याप्त मात्रा में है । 'मिखला' द्वारा मिथ्या-विवाह की घटना से अनमानित होने पर यह बड़ी ही बुद्धिमत्ता से उसके साथ बदला चुकाता है ।

##### ३. मृगाङ्कावली

मृगाङ्कावली इस नाटिका की नायिका है । यह अनुपम सौन्दर्य से युक्त है । नायक प्रथम दर्शन में ही इसके प्रति अनुरक्त हो जाता है । यह भी नायक

को अपनी ओर आकर्षित करने में कोई कौर-कमर नहीं उठा रखती । इसीलिए ही इसने झूठे पर नायक को अपना दर्शन दिया, कैलिकैलास नामक वासगृह की स्पष्टिकमय दीवारों पर अपना तथा अपने रूप से संबंधा मिलती-जुलती शालभञ्जिका का चित्र चित्रित कराया ।

#### ४. विचक्षणा

विचक्षणा एक चतुर दासी है, यह सदा नायक-नायिका के हित-भहित का ध्यान रखती है । इस पर सब विश्वास रखते हैं । इसीलिए विद्याधर का मंत्री भागुरायण आदरपूर्वक इससे राजा के गोपनीय कार्य के करने में सहायता की याचना करता है । राजा के गोपनीय कार्य को सम्पादित करने के लिए ही यह भृगाङ्गायली की प्रियसखी बन जाती है तथा राजा का काम बनाने के लिए तैयार रहती है और इस कार्य में उसे पूर्ण सफलता भी मिलती है ।

# टिप्पणी ( नोट्स )

## प्रथम अङ्क

१—विद्वशालमञ्जिका ( पृ. १ )—इस नाटिका के रचयिता द्वारा नाटिका का नाम 'विद्वशालमञ्जिका' रखा गया है। नाटिका के कथानक में उसके रचयिताने केलिकैलास नामक वापगृह के स्फटिकमय लम्बे में नायिका की शालमञ्जिका ( मूर्ति ) जो विद्धा ( छेनी में गोद-रोद कर बनाई गई ) है—की योजना की है और नायक, नायिका की इस मूर्ति को पहिचान कर उसे हार पहिनाता है। इस स्थल से नायक का प्रेम-प्रमार और आगे बढ़ता ही जाता है अतः नाटिका के नामकरण का उपयुक्त आधार उसी शालमञ्जिका ( मूर्ति ) को रचयिता ने समझा और नाटिका को उपयुक्त ( विद्वशालमञ्जिका ) संज्ञा प्रदान की।

२—अङ्क ( पृ. १ )—धनञ्जय के मतानुसार अङ्क में नायक के चरित का प्रत्यक्षरूप से निबन्धन होता है एवम् इसमें विन्दु नामक अर्थ-प्रकृति की प्राप्ति होती है। अंक में नाटकीय अर्थ को सम्पादित किया जाता है तथा यह रस का आश्रय भी होता है।

प्रत्यक्षनेतृचरितो विन्दुव्यासिपुरस्कृतः ।

अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः ॥

अंक का शाब्दिक अर्थ है—गोद, क्रोड एवम् उत्सङ्ग आदि ।

विन्दु, नायक के व्यापार तथा रसादि से अधिष्ठित यह उनके लिए उत्सङ्ग अथवा गोद का सा काम करता है अतः इसे अंक कहा जाता है ।

रंगप्रवेशोसाशक्तिर्दिश्यमाननायकव्यापारो विन्दूपक्षेपार्थपरिमितोऽनेकप्रयोजन-संविधान-रसाधिकरण उल्मङ्ग इवाङ्कः ।

३—सूत्रधार ( पृ. १ )—भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नान्दी पाठ के अनन्तर खेले जाने वाले नाटक की प्रस्तावना सुनाने वाला, नाटक

अभिनय करने वाले नट-वर्ग का प्रधान नेता, नाट्य के सारे सूत्र का कार्य-सञ्चालन करने वाला एवं नाट्यशाला का व्यवस्थापक सूत्रधार कहा जाता है।

४—सुधा ( पृ. ४ )—‘सुधु धीयते पीयते अप्यते सुधा’ सुधा की उत्पत्ति समुद्र-मन्थन से हुई थी। विष्णुपुराण में इसका प्रसंग आया है।

५—कामधेनुः ( पृ. ४ )—कामधेनु स्वर्ग की गाय है जो सब काम-नाशों को पूरी करने वाली मानी जाती है।

‘न केवलानां पयसां प्रसूतिः अवेहि मां कामदुहां प्रसन्नाम्’ (रघुवंश)  
यह भी समुद्र-मन्थन से निकली थी।

६—पद्गुणाः ( पृ. ५ )—राजनीति के छः गुण माने गये हैं—मन्धि, विग्रह, यान ( चलाई ), आमन ( विधान ), वृंधीमात्र और मंघ्रय।

७—मन्त्रदीप्तम्—( पृ. ५ )—किमी मन्त्र का प्रथमाक्षर मन्त्रबीज कहा जाता है। इसे मूलमन्त्र भी कहते हैं। मन्त्र की निद्रि और उमकी सकलता इसी पर निर्भर होती है।

८—विष्कम्भक ( पृ. ८ )—‘विष्कम्भाति अनुसन्धानेन वृत्तमुपष्टम्भ-यतीति विष्कम्भकः।’ मृत्यु के द्वारा कथानाग को पुष्ट बनाने वाला विष्कम्भक है। इसमें उन्हीं बातों का समावेश किया जाता है जिनकी नाटक के अङ्कों में दिखाना नहीं जा सकता। विष्कम्भक के दो भेद हैं—शुद्ध एवं मंकीर्ण। शुद्धविष्कम्भक में सभी मध्यम पात्र होते हैं और वे सभी पात्र संस्कृत बोलते हैं मंकीर्ण विष्कम्भक में अधम पात्र भी रहते हैं।

९. शृङ्गार ( पृष्ठ १८ )—‘शृङ्गार’ शब्द की रचना ‘शृंग’ तथा ‘आर’ इन दो शब्दों के योग से हुई है। ‘शृंग’ का अभिप्राय है—काम का उद्देक एवं ‘आर’ शब्द गन्धर्बक है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार कामदेव के उद्भेद को ‘शृङ्गार’ कहते हैं।

समस्त रसों में शृङ्गार रस अत्यन्त कमनीय है। यह रसराज की मंजा से अभिहित किया गया है। क्योंकि इसका आनन्द प्रदेक महद्वय एवं अमहद्वय, व्यक्ति, वृत्त, मञ्जरा, है। इसी के अस्थापिताय रति, च्छ, ही, प्रायस्य, चान्, के मनी प्राणियों में है।

१०. मदनायुधम् ( पृष्ठ २७ )—मदन कामदेव का नाम है । ये परम-रूपवान् माने गये हैं । पुराणों में इनके आयुध निम्न बताये गये हैं—

अरविन्दमशोकञ्च चूतञ्च नवमालिका ।

नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्यमायकाः ॥

उपर्युक्त पाँच आयुध पुष्प जति के हैं । गुण-कर्म से मदन के आयुध निम्न हैं—

उन्मादनस्तापनश्च शोषणः स्तम्भनस्तथा ।

संमोहनश्च कामस्य पञ्च बाणाः प्रकीर्तिताः ॥

### द्वितीय अङ्क

११. चेटी ( पृष्ठ ३३ )—चेटी का अर्थ है—शामी विशेष । जो रहस्य को छिपा सकने में समर्थ, देश एवं काल आदि को समझने वाली तथा अहंकार और चपलतारहित होनी है ।

‘गुप्ता दक्षा मृदुस्थिराः ।’

‘गुप्ता रहस्यधारणममर्या । दक्षा देशकालसममादिविदः । मृदुचोऽनहं कृताः । स्थिराश्चापलवर्जिता ।’

१२. प्रवेशकः ( पृष्ठ ३६ )—विष्कम्मक की ममी शर्तें ‘प्रवेशक’ में पायी जाती हैं । केवल इतना ही अन्तर है कि इसमें अधम पात्रों का ही प्रयोग होता है जो प्राकृत बोलते हैं और यह दो अंकों के बीच में ही पाया जाता है ।

१३, ध्रुव १४. एवं सप्तर्षिमण्डल ( पृष्ठ ४० )—ध्रुव उत्तानपाद राजा के पुत्र थे । अपनी सौमेली माँ सुरचि से अपमानित होकर ये तपस्या के लिए वन चले गये और एक वृक्ष के नीचे बैठकर इंद्रवर का ध्यान करने लगे । बीच-बीच में अनेक विघ्न पड़े किन्तु ध्रुव को कोई बाधा विचलित न कर सकी । सभी परीक्षाओं में ध्रुव सफल हो गये । इनकी ममी अभिलाषाएँ पूरी हो गईं । अपनी मनोःकामना पूर्ण होने के पश्चात् ध्रुव पुनः माता के पास लौटे और अन्त में राज्य के उत्तराधिकारी भी बने ।

आकाश में उत्तर की ओर एक छोटा सा तारा टिमटिमाता हुआ दिखाई देता है । यह तारा अपना स्थान कभी नहीं बदलता । पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव से

शोक उतर आकार में यह शब्द इन्लिप् अटल है कि ध्रुव कानी प्रविश पर अटल ये ।

मत्त पिपों का नाम निष्-निष्ठ प्रथों में निष्-निष्ठ पाया जाता है । महा-भारत ( १२, ३३५, २९ ) के अनुसार मत्तपि, मत्ति, मत्तिरम, पुन्त्प, पुल्ह, म्नु तथा वन्तिष्ठ मत्तपि हैं ।

विवाह के म-प वर-कन्या को ध्रुव तथा मत्तपि-मण्डल दिग्भाषे जाने को प्रथा है । मन्वतः इस प्रकार वर-कन्या पारस्परिक प्रेम को स्थिर एवं अचल बनाए रखने की प्रेरणा प्राप्त करें—यही इन प्रथा में उद्देश्य निहित है ।

१५. हरिणाड्ड ( पृष्ठ ५२ )—द्वितीय अंक के श्लोक १८ में चन्द्रना के लिप् हरिणांक शब्द का प्रयोग किया गया है । मन्वतः यह शब्द चन्द्र-मण्डल में बने हुए काले धब्बे की ओर संकेत करता है क्योंकि यह धब्बा हिरण के समान आकार वाले एक अनुपस्थाय पशु की आकृति का है तथा पूर्णचन्द्र में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है । चन्द्रना के लिप् 'शरणांक' पूर्व 'पुनांक' शब्द का भी प्रयोग इसी प्रकार है ।

### तृतीय अङ्क

१६. दशदिशा ( पृष्ठ ७५ )—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर ये चार मुख्य दिशाएँ हैं । पूर्व और दक्षिण के बीच का कोना 'आग्नेय', दक्षिण और पश्चिम के बीच का कोना 'नैऋत्य', पश्चिम और उत्तर के बीच का कोना 'वायव्य', उत्तर और पूर्व के बीच का कोना 'ईशान' ये चार दशदिशाएँ हैं । इनके अतिरिक्त ऊर्ध्व ( ऊपर ) और अधः ( नीचे ) ये दो दिशाएँ और नाती जाती हैं । इस प्रकार कुल दश दिशाएँ हुईं ।

### चतुर्थ अङ्क

१७. दोहद ( पृष्ठ १०७ )—गर्मिणी की इच्छा या अनिच्छा को दोहद कहते हैं । ऋक्समय के अनुसार विभिन्न वृक्षों के विकसित होने के लिप् विभिन्न विधान हैं । ये ही उन वृक्षों के दोहद कहलाते हैं । यथा—'सुन्दरी के रुने से शिबु, पान की पीक डालने से मौलमिरी, लाल मारने से अशोक, देगने से तिलक, गाने से आम एवं नाचने से कचनार फूलता है ।'



१८. जनान्तिक ( पृष्ठ ११२ )—नाटक में भाषण में बात करने की एक मुद्रा, कर-संकेत से एक व्यक्ति को बुलाकर धीरे-धीरे बात करना 'जनान्तिक' है।

१९. दक्षिणाक्षिस्पन्द ( पृष्ठ ११७ )—पुरर्यों के लिए दायें अङ्ग तथा स्त्रियों के लिए बायें अङ्ग का स्पन्दव दखुन माना जाता है। इसके द्वारा प्रिय-प्राप्ति का अनुमान किया जाता है। 'नेत्रे नेत्रप्रियाः प्राप्ताः।

पुनश्च अहस्फुरण के विषय में वसन्तराजीय में लिखा है—

पुंसां सदा दक्षिणदेहमागे र्खाणां तु वामावयवे प्रजातः।

स्पन्दः फलानि प्रदिशत्यवश्य निहन्यनुक्ताङ्गविपर्ययेण ॥

२०. भरतवाक्य ( पृष्ठ १२० )—नाटक का आर्शावादात्मक अन्तिम गान 'भरतवाक्य' कहा जाता है। रूपक के अन्त में इसकी रचना अवश्य करनी चाहिए।

२१. लक्ष्मी ( पृष्ठ १२० )—कमल की विकसित पत्रुड़ियों पर आसीन लक्ष्मी समुद्र मन्थन से निकली थीं। ये धन की देवी हैं। इनकी उत्पत्ति का वर्णन विष्णुपुराण तथा महाभारत में मिलता है। तदनुसार लक्ष्मी ने भगवान् विष्णु का वरण किया और उन्हें अपना पति बनाया।

## सुभापितानि

'अनुगुणं हि दैवं सर्वस्मै इवस्ति करोति ।'

'आकृतिमनुगृह्णन्ति गुणाः ।'

'कथमिव सहकारयन्दां कलकण्ठी कुण्डितप्रणया भवति ।'

'कथमिव जीवतः छुकेलासाच्छिरः सुवर्णं प्राप्यते ।'

'किं गते मलिले सेतुबन्धेन ? किं वा वृत्ते विवाहं नक्षत्रपरीक्षया ?'

'न खलु अनुत्पादितः सहकारपृष्ठग्रन्थिः सम-सर्वस्वं मुञ्चति ।'

'न प्रेम नभ्यं सहतेऽन्तरायम् ।'

'न खलु मृगलाञ्छनम् उद्दिग्वाऽभ्येन शशिकान्तपुत्रिकावद्धनिर्गता  
ग्रहप्यति ।'

'न विना चन्द्रं दोषालिकाया विकसन्ति कुसुमानि ।'

'न हि स्नेहो युक्तायुक्तमनुरुणद्धि ।'

'यदरिष्टमधिरूढा कारवह्नी-बहुरी किमुन्पते कटुकार्थं प्रति ।'

'लेखमुरा एव लेखवाहा भवन्ति ।'

'वरं तत्कालोपनतस्तिचिरः, न पुनर्दिवसान्तरितो मयूरः ।'

'शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः ।'

'श्रुतमन्त्रसंरक्षणं खलु कार्यनिन्देः कारणम् ।'

नाटकीया विषयाः

- स्वगतम् — 'स्वगतं स्वहृदि स्थितम्' ।  
 प्रकाशम् — 'प्रकाशं ज्ञाप्यमन्यपाम्' ।  
 अन्वारितम् — 'परावृत्त्य रहस्याख्याऽन्यस्मै तद्वच्यारितम्' ।  
 जनान्तिकम् — 'त्रिपताकान्तरोऽन्येन, जल्यो यस्तजनान्तिकम्' ।  
 आकाशोक्तिः — 'आकाशोक्तिः स्वयम्प्रशन-प्रत्युत्तरमपात्रकम्' ।  
 नेत्रयम् — 'नयानां वेपपरिग्रहस्थानम्' ।  
 नाटिका — 'चतुरङ्गा बहुश्रुंका, नृपेसा स्त्री-महीफला ।  
 कल्प्यायां कैशिकी मुख्या, .....' ॥

× × ×

- 'प्रेमाद्रौ बतनेऽन्यस्यां, नेता मुख्याऽमिशङ्कितः ।  
 देवो दशाऽपरा मुग्धा, समघर्मा द्वयोः पुनः' ॥
- अङ्क — 'अवस्थायाः समाप्तिर्वा छेदो वा कार्ययोगतः ।  
 अङ्कः सविन्दुद्वयार्थः चतुर्धामो मुहूर्ततः' ॥
- नान्दी — 'देव-भूप-सना-भर्तृ-मुख्यानां मङ्गलामिधा ।  
 नित्या रूपमुहं नान्दी, पदैः षड्मिरयाष्टभिः' ।
- सूत्रधारः — 'नाट्योपकरणार्दानि सूत्रमित्यभिधीयते ।  
 सूत्रं धारयते यस्तु सूत्रधारः स उच्यते' ॥
- प्रस्तावना — 'विदूषक-नयी-मार्पैः, प्रस्तुताक्षेपिभाषणम् ।  
 सूत्रधारस्य बद्धोक्त-स्पष्टोक्तैर्यन् तदामुक्तम्' ॥
- विष्कम्भकः — 'विष्कम्भानुसन्धानेन नृत्तमुपष्टम्भयतीति विष्कम्भकः' ।  
 — 'अप्रत्यक्षान् अर्थान् सामानिकद्दये प्रवेशयतीति प्रवेशकः' ।  
 — 'त्यागी कृती कुलीनः सुधीको रूपयौवनोन्साही ।  
 दशोऽनुरक्तलोकस्तोत्रोर्बैदग्ध्यशालवाद्येता' ॥

- विद्वपकः — 'विद्वपको हास्यनिमित्तं भवति' ।
- बीजम् — 'स्वलोद्विष्टः फलप्राप्तः, हेतुबीजं प्ररोहणात्' ।
- विन्दुः — "हेतोश्छेदेऽनुसन्धानं, बहूनां विन्दुराफलात्' ।
- कार्यम् — 'साध्ये बीजसहकारी कार्यम्' ।
- पञ्चावस्थाः — 'भारम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियतासि-फलागमाः ।  
नेतुवृत्ते प्रधाने स्युः, पञ्चावस्था ध्रुव क्रमात्' ॥
- पञ्चसन्धयः — 'मुखं प्रतिमुखं गर्भान्तरा-निर्वहणान्यर्भा ।  
सन्धयो मुख्यवृत्तांशाः, पञ्चावस्थाऽनुगाः क्रमात्' ॥

## पात्र-परिचय

### पुरुष-पात्र

१. सम्राट् विद्याधरमहः : उज्जयिनी का स्वामी : नाटक-नायक
२. सूत्रधार : नाटकाभिनयप्रबन्धक
३. चाराचम : विद्वपक, राजा का मित्र
४. हरदास : राजा के मंत्री भागुरायण का मित्र
५. भागुरायण : सम्राट् विद्याधरमल्ल का मंत्री
६. कुरङ्क : सम्राट् विद्याधरमल्ल का पत्र-वाहक
७. दूनद्वय : लाटाधिपति के दो दूत

### स्त्री-पात्र

१. देवी : राजा का प्रथम पत्नी
२. मृगाङ्गावर्डी : लाटाप्रदेश के अधिपति चन्द्रवर्मा की पुत्री : नायिका
३. कुन्तलमाला : कुन्तलदेश के राजा चण्डमहामते की कन्या
४. मेन्दला : देवी की धारिणी की कन्या
५. पुष्करमाला : विद्वपक की पत्नी
६. कुरङ्गिका : देवी की चेटा
७. तरङ्गिका : " " "
८. मुलक्षमा : " " "
९. विचक्षमा : देवी की चेटा : मृगाङ्गावर्डी की मित्र सती